TO THE READER.

KINDLY use this book very carefully. If the book is disfigured or marked or written on while in your possession th book will have to be replaced by a n or paid for. In case the book be a of set which single volume is not a the price of the whole set will be r

SRI PRATAP COLLEGE,
SRINAGAR.
LIBRARY

Class No. 891.433
Book No. M67I
Accession No 18354

प्रकाशक :

सुबुद्धिनाथ जैन,
राजहंस प्रकाशन,
सदर बाजार,
दिल्ली-६ ।

• • •

लेखक

दयाशंकर मिश्र

• • •

891.433
M67 I
18354

सर्वाधिकार सुरक्षित

• • •

मूल्य चार रुपये आठ आने

• • •

मुद्रक :

अमरचन्द्र जैन,
राजहंस प्रेस,
सदर बाजार,
दिल्ली-६ ।

लेखक के अन्य उपन्यास

- मरीचिका
- समिधा
- पाथेय
- बुझते दीप
- कोठी की बात
- छोटी बहू
- छोटी चाची
- रजनी गन्धा

राजहंस

अपनी बात

आज का युग थके हुए जीवन का युग है जिसमें चारों ओर नैराश्य का घना अन्धकार है। अरक्षा—आशंकाओं की आकुल घटनाएं दिन-रात घुमड़ती रहती हैं, यहां तक एक संस्कारी व्यक्ति के लिए मान-पूर्वक जीना भी दूभर है। जिन्हें सरकारी पद, इनाम, इकरार मिल गये हैं उनकी बात दूसरी है।

ऐसे युग में साहित्य के देवता (आलोचक) हम से इस प्रकार के आदर्शोन्मुख साहित्य की मांग करते हैं जिसमें जीवन के प्रति आशा और उमंग हो, किन्तु भाई! पाठक से यथार्थ छिपाकर आदर्श की दुहाई देने, मिथ्या को विजयी बनाकर दिखाने से बड़ा पाप इस धरती पर दूसरा नहीं हो सकता।

महात्मा गांधी ने भी अपने आदर्शों की आंधी में इसी सत्य को भुला दिया था। आजादी के बाद उनके 'स्थित प्रज्ञ' एवं 'अपरिग्रही' अनुयायियों का घोर पतन इसी सत्य का स्पष्ट प्रमाण है।

आज इस देश में अर्थ-संचय और अधिकार लिप्सा की ऐसी होड़ है कि मानों हमारी समस्त सांस्कृतिक चेतना—ज्ञान, बुद्धि, विवेक ही लुप्त हो गये हैं और शेष है मात्र हमारा पशुत्व!

मजे की बात यह है कि अपनी इस लज्जा-जनक पशुता को छिपाने के लिए हम कभी-कभी कितनी उमंग और उत्साह से सत्य-अहिंसा के प्रतीक बुद्ध-गांधी की जयन्तियां मना कर अपने आप ही को धोखा दे लेते हैं। लेकिन भाई! इस धोखा-धड़ी से कब तक काम चलेगा?

आज हमने अपनी मानवी चेतना को भुला कर कपट और मिथ्याचार को 'टैक्ट' की नवीन अभिधा से प्रतिष्ठित किया है। यह इस युग का नया आविष्कार है!

यह 'टैक्ट' ही ग्राज हमारा ग्रमोघ ग्रस्त्र बन गया है। जिसको लेकर चपरासी की निम्न सीढ़ी से मंत्री पद की ऊँचाई तक ग्राप सहज ही में पहुँच सकते हैं। उसके बाद प्रारम्भ होती है 'कोठी ग्रौर कार' की दौड़ !

उस दिन इस कार-कोठी की दौड़ से तंग ग्राकर किसी सिर फिरे ने बुद्धिमानों की प्रतिनिधि सभा में बिना सोचे समझे, ग्रपने से बड़ों का लिहाज किये बिना प्रस्ताव रख दिया कि ग्रब इस 'कार-कोठी' की दौड़ को सीमा में बाँध देना चाहिये।

इस पर क्रोध ग्राना स्वभाविक था। सचमुच ही हमारे बड़े बौखला उठे। बोले—"ग्रमीरी की हदबन्दी करना महज़ हिमाकत ग्रौर बेवकूफी है !"

जब उन्हीं के द्वारा ग्राज की ग्रकर्मण्य नौकरशाही की विरुदावली गाये जाने की बात सुनी तो प्राण कंठ ही में ग्रटक गये किसी भी तरह विश्वास नहीं ग्राया।

सोचता रहा—जो दिन रात यह कहते थकते नहीं कि हमारा उद्देश्य देश में समाजवादी व्यवस्था कायम करना है, सो उन्हीं के मुंह से ऐसी बात कैसे निकली होगी ?

'सीमाहीन ग्रमीरी ही गरीबी का मूल कारण है', इतनी छोटी सी बात वे नहीं समझते इस पर भी सहज ही में विश्वास नहीं ग्राता फिर क्यों ? ....पर कैसे भी इस 'क्यों' का जवाब नहीं मिलता।

लगता है इस 'होड़-दौड़' में व्यस्त मानव के हृदय-द्वार तक ग्रपनी इस एकान्त निगूढ़ वेदना को पहुंचा सकूं, मेरी यही कामना ग्रज्ञात रूप से 'झीनी' मे मूर्तमती हो उठी है ग्रौर यथार्थ की यही वह भाव-भूमि है जिस पर झीनी के कथा-सूत्र बिखरे पड़े हैं।

'झीनी के सम्बन्ध में यह मेरी ग्रपनी बात है। शेष तो पाठक का ग्रधिकार है।

—लेखक

१

उस धूल भरी पगडण्डी पर राजेन्द्र धीरे-धीरे चला जा रहा था। सोचने लगा—जिस यात्रा का कोई अर्थ उद्देश्य नहीं, उसी पर कब तक चले जाना होगा ? इतनी बड़ी गृहस्थी का बोझ अकेले भइया पर डाल कर क्यों लुकता-छिपता फिर रहा हूँ।

जिस अपराध के लिए लोग मेरे प्राण ले लेना चाहते हैं, वह सचमुच ही क्या इतना बड़ा है कि जिसका भोग मुझे मरते दम तक भोगते जाना होगा ?

जीवन की न जाने कितनी विशृङ्खल घटनाओं के सूत्र जोड़ता-तोड़ता वह कमलों से भरे एक तालाब के किनारे जा खड़ा हुआ। फिर धूप-गर्मी से क्लान्त राजेन्द्र पास ही के एक बगीचे में बैठकर थोड़ी देर सुस्ताने के लिए मुड़ गया। बगीचे की भग्न खाई लाँघ कर अन्दर पहुँचा और कोने में खड़ी मौलसिरी की ठण्डी छाँह में जा बैठा।

अचानक किसी की पदध्वनि से वह चौंक पड़ा। उधर देखा तो कौतूहल के मारे देखता ही रह गया।

बात यह थी कि छोटी-सी दाढ़ी वाला अधनंगा युवा किसान कुछ कहता-सुनता एक मोर को दूर तक भगा आता है और वह हठी मोर न जाने किस लोभ को लेकर बार-बार लौट आता है।

बगीचे में कुछ पेड़ उखड़ गये थे। उन्हीं की जगह आमों की नई पौध लगा रहा था। उसने देखा कि वही हठी मोर फिर वापस

लौट रहा है। माथे का पसीना तर्जनी से समेटकर एक ओर छिटकता आर्द्र-कण्ठ से उस मोर को देखता-देखता बोला—"ओ खुदा के बन्दे ! कैसी खूबसूरत शक्ल बख्शी है तुझे उस परवरदिगार ने और तेरे ये खोटे करम !·········आ·········ठहर·········!" कहता-कहता वह फिर उसके पीछे दौड़ गया।

राजेन्द्र कुछ भी न समझ पाया कि उस विधाता से ऐसा सुन्दर रूप पाकर वह मोर वहाँ बार-बार कौन-सा कुकृत्य करने आ जाता है और यह किसान किस बात की दुहाई दे-देकर उसे दूर तक भगा आता है ? उस ओर न कोई पौधा है और न फसल। सूखी परती जमीन है फिर किस बात को लेकर इस निरीह मानव और उस कलँगीधारी पक्षी के बीज यह अद्भुत लड़ाई छिड़ गई है ?

अन्त में उस किसान ने पौध लगाने का काम बन्द कर दिया। जिस ठौर वह मोर बार-बार आ जाता था उसी के पास खड़े आम की जड़ का सहारा लेकर बैठ गया। वह पक्षी इस नई परिस्थिति से खिन्न हो कुछ दूर खड़ा खड़ा किसी अनुकूल अवसर की प्रतीक्षा करने लगा।

बात बहुत छोटी थी किन्तु राजेन्द्र का जिज्ञासु मन न माना। जब वहाँ से उठकर चल देने का निश्चय किया तो सीधा मार्ग छोड़कर उसी स्थान से होकर निकला जहाँ वह खुदा का बन्दा मोर बार-बार किसी अज्ञात लालच को ले-लेकर आ जाता था।

राजेन्द्र ने वहाँ जाकर जो देखा उसे देखता ही रह गया। उस किसान द्वारा मोर के प्रति की गई दुहाई से ही उसने समझ लिया था कि वह कोई मुसलमान किसान है किन्तु उस मोर से जिन महत्वहीन चींटे-चींटियों के प्राण बचाने का हेतु लेकर वहाँ धरना दिये बैठा है सो उस बात को राजेन्द्र किसी भी तरह न समझ पाया।

राजेन्द्र जाति से ब्राह्मण है। बचपन से अपने ब्राह्मण कुल, और

हिन्दू समाज में इस जाति विशेष के लिए वह 'यवन', 'म्लेच्छ' नाम ही सुनता आया है। आज तक उनके द्वारा भक्ष्य-अभक्ष्य जीव-जन्तुओं को काटकर खा जाने की अनेकों तरह की बातें सुना थीं; किन्तु आज अचानक महात्मा बुद्ध के जिस अनुयायी और महाप्रभु चैतन्य के जिस परम भक्त वैष्णव मुसलमान को अपनी आँखों से देखा है, सो देखकर, वह जहाँ का तहाँ मुंह बाये खड़ा रह गया।

जाने कितनी बार कितने ही हिन्दुओं को इन चीटे-चीटियों के घरों पर चींनी बिखेरते उसने देखा है पर इस प्रकार किसी मोर से उनकी प्राण-रक्षा करते कभी किसी को नहीं देखा था। ऐसे मुसलमान वैष्णव के बिना निकट से दर्शन किये राजेन्द्र उस बगीचे को किसी भी प्रकार न छोड़ सका।

जब उधर गया तो देखा सामने बिछे दस्तरखान पर तीन-चार मोटी रोटियाँ पड़ी हैं। एक हाथ में पीला बड़ा आम है। रूखी रोटी से टुकड़ा तोड़-तोड़कर अमरस के सहारे निगले जा रहा है।

राजेन्द्र के पैरों की आहट उस किसान के कर्ण रन्ध्रों तक न पहुँच पाई क्योंकि कर्णेन्द्रिय का जो स्वामी होता है वह और चाहे कहीं हों पर उस समय वहाँ नहीं था।

राजेन्द्र चुपचाप वहाँ से हटकर एक ओर खड़े हार सिगार से झरते फूलों के नीचे आ बैठा। तभी उसके कानों ने सुना। वह स्वागत भरे स्वर में चिल्ला रहा था—"अरे वहाँ क्यों अकेले बैठे हो किबला ! यहाँ आ जाओ !"

राजेन्द्र के वहाँ पहुँचते ही न जाने क्या सोच कर उसने अपनी अवशेष रोटियाँ दस्तरखान में बांधीं और एक ओर रख दी फिर उठा राजेन्द्र के सामने थोड़े से आम धोकर रख दिये। पास-पास बैठे दोनों आम चूसते बातें करने लगे।

बात-चीत करते-करते थोड़े ही समय में राजेन्द्र ने जान लिया कि

Library Sri Pratap College

उसका नाम महमूद है। वह सरल चित्त किसान है। हिन्दी उर्दू दोनों का अच्छा ज्ञान है। कविता से प्रेम है। और यह कि वह अभागा दुःसह दुःख और सर्वथा अन्याय के बीच ही जी रहा है। सोच-सोचकर राजेन्द्र का मन पसीज उठा। बात यह थी कि—उसकी अपनी बस्ती गंगासागर के मुसलमान उसे 'काफिर' और हिन्दू उसे 'गुंडा समझते थे।

थोड़ी देर तक दोनों में से कोई न बोला। तब राजेन्द्र ने पूछा—

"हिन्दू तुम्हें गुंडा क्यों समझते हैं ?"

सुनकर महमूद मियाँ का गोरा मुंह लाज से आरक्त हो उठा। कुछ देर चुप रहे। फिर अपने नये पौधों को देखते-देखते बोले—"बात पुरानी नहीं है लेकिन क्या करोगे सुनकर ? तुम ब्राह्मण हो—देवता हो—लोग उस बात को पाप मानते हैं।"

"और तुम ?"

"मैं पाप मानता तो वैसा कर ही नहीं पाता। मैंने उसे कभी कुफ्र नहीं माना।"

तभी राजेन्द्र की निगाह कपड़े में बँधी रोटियों पर गई। अचानक उसे इस सत्य का परिज्ञान हुआ कि दोपहर को आये मुझ पथिक को भूखा समझकर ही अकेले-अकेले रोटी का एक ग्रास तक वह नहीं निगल सका है, साथ ही मेरी ओर रोटी बढ़ाकर मेरी जाति की महिमा को भी कम नहीं करना चाहता था इसीलिए बीच ही में रोटियाँ एक ओर रख कर वह अधभूखा ही रह गया है।

उस निरीह सरल चित्त विजातीय बन्धु के चारों ओर उसे कुछ ऐसा साफ-साफ दिखलाई पड़ा कि उत्कट वेदना से राजेन्द्र की आँखें आँसुओं से धुंधली हो उठीं।

उसके चारों ओर जो कुछ अडिग रूप से व्याप्त था, सो वह सम्पूर्ण हिन्दू समाज के छुआछूत, धर्माधर्म और समस्त पाप-पुण्य से भी ऊपर की वस्तु उसे प्रतीत होने लगी।

राजेन्द्र के मन प्राण उसकी उन रोटियों को किसी भी प्रकार अभक्ष्य न मान पाये।

जिसे हम 'संस्कार' कहते हैं और मन, प्रकृति. बुद्धि-विवेक जैसे जाने कितने नामों से पुकारते हैं सो वही उस हिन्दू और हिन्दुओं में भी सिर-मौर ब्राह्मण राजेन्द्र का जन्मजात संस्कार उसके हृदय से खिसक कर न जाने कब कैसे महमूद मियां के चारों ओर उमड़ती विगलित करुणा के महानद में जाकर अचानक समा गया।

राजेन्द्र रुकते-रुकते भर्राये कण्ठ से बोला—"भाई! बहुत भूखा हूँ। इनमें से एक रोटी मिल सकेगी ?"

सुनकर महमूद मियां के चेहरे पर जो अंकित हो-होकर मिटने लगा, सो बिना देखे किसी भी प्रकार उसकी उपलब्धि नहीं हो सकती।

महमूद मियां ने तेजी से उठकर राजेन्द्र को जोर से अपने बाहुपाश में बांध लिया।

× × ×

महमूद मियां का वह बगीचा गंगासागर बस्ती से थोड़ी ही दूर पर है। बगीचे के ठीक बीच में पक्की ईटों का चबूतरा है। उसी पर एक छोटी-सी कुटिया है। खपरैल की छत है। पास ही पक्का कुआं है। कुटिया के चारों ओर रंग-बिरंगी लता बेलें हैं।

उन कुटिया में एक लकड़ी का तख्त है। खाना-पीना हो चुकने पर महमूद मियां ने उसी पर कम्बल बिछाकर उससे बैठने के लिए कहा।

महमूद मियां की बातचीत, आदर-सत्कार देखकर वह मन ही मन सोचने लगा—

अभी दोपहर को ही मैं इस बगीचे में आया हूँ पर लगता है जैसे इतने बड़े संसार में इस मुसलमान बन्धु से अधिक मुझे कोई प्यार नहीं करता।

साँझ होने पर महमूद मियाँ जंगल से सूखे उपले बीन लाये। दोनों ने मिलकर उपलों का अलाव लगाया। आटा गूंथ कर बाटियाँ बनाइं। आग में सेंकीं फिर अमरस के साथ खा-पीकर उसी कुटिया में आ बैठे।

दिया बाती करके महमूद मियाँ ने पास-पास धरती पर दो बिस्तर बिछाये। दोनों बिस्तरों पर लेट गये। कुछ देर इधर-उधर की बातें होती रहीं। फिर न जाने कब कैसे बातचीत का सिलसिला टूट गया। महमूद मियाँ ने उठकर दीया बुझा दिया।

कुछ देर दोनों गुमसुम लेटे रहे तब धीरे से महमूद मियाँ बोले—

"महाराज ! सो गये क्या ?"

"नहीं तो।"

"कितने महीनों से इस झोपड़ी में अकेला रहता आया हूँ। आज तुम आ गये हो, सो खुशी के मारे नींद नहीं आ रही है।"

"घर वाले कहाँ हैं ?"

"घर में अब कोई नहीं है। कस्बे में लम्बा चौड़ा मकान है पर उसमें रहने को मन नहीं करता।"

"क्यों ?"

"......................।"

"चुप क्यों हो गये ?"

"महाराज ! चुप रहने की दसियों बातें हैं। हम जैसे आदमियों को इस दुनिया में चुप ही रहना पड़ता है। कोई सच को झूठ कहे तो सफाई भी तो नहीं दे पाते।" कहते-कहते महमूद मियाँ का गला रुँध आया। राजेन्द्र स्वर में मिठास भर कर बोला—

"लगता है कुछ छिपा रहे हो। सच-सच बताओ क्या बात है ?"

"बात सिर्फ मेरी ही होती, तो जरूर ही बता देता पर इस बात में मेरे साथ कोई दूसरा भी तो शामिल है। इसलिए चुप ही रहना पड़ेगा।"

कुछ देर चुप रहकर महमूद मियाँ ही बोल—

"महाराज ! देश-विदेश घूमे हो। लिखा-पढ़ा भी है। कुछ बातें मेरी समझ में कैसे भी नहीं आती। पूछूं ?"

"नहीं भाई। संसार और संसार के बारे में मैं कुछ भी नहीं जानता। बुरे संग में बुरी बातें ही अब तक सीख पायी है। तुम्हीं सुनाओ। घर वाले सब कहाँ गये ?"

"मेरी अम्मा बचपन ही में मर गई थी। अब्बा को मरे आज आठ साल हो गये। इसी सावन के महीने में हैजे से उनका इन्तकाल हो गया था। मैं उनका इकलौता बेटा पिछले कितनी सालों से अकेला ही जीता आ रहा हूँ। दिन भर काम-काज में उलझा रहता हूँ लेकिन रात होते ही मन दर्द से भर उठता है।"

"शादी क्यों नहीं की ?"

"हमारे मजहब में एक छोड़ दो-चार बीवियाँ घर में ले आने की इजाजत है लेकिन मैं उस बात को नहीं मानता। खुदा से मैंने एक ही बीवी मांगी थी। ऐसी जो माँ की तरह दुलराती, बहिन बनकर मेरे भले-बुरे का ख्याल रखती और बीवी की तरह प्यार करती। महाराज! ऐसी बीवी पाकर भी मैं न पा सका।"

"क्यों क्या हुआ ?"

"सोचता हूँ, इस दुनिया में जाने कितने रोज जन्मते हैं, कितने रोज मरते हैं। क्यों जन्मते हैं ? क्यों मरते हैं ? क्यों बिना वजह किसी से नफरत हो उठती है और क्यों कोई पहिली नजर में ही मन में आ समाता है ? पूछे जाओ........पूछे जाओ पर इस 'क्यों' का जवाब नहीं मिलता........नहीं मि........।" कहते-कहते महमूद मियाँ का गला भर आया।

फिर दोनों में से कोई भी न बोला।

× × ×

सावन का महीना था। अचानक हवा का चलना बन्द हो गया। उमस के मारे राजेन्द्र की नींद टूट गई। थोड़ी देर तक आँखें मूंदे किसी तरह सो जाने की कोशिश करता रहा। आखिर हार कर आँखें खोल दीं। पास के बिस्तर पर देखा तो पता चला कि महमूद मियाँ वहाँ नहीं है।

सोचने लगा— इतनी रात गये महमूद मियाँ कहाँ गये? तभी दूर पहाड़ी से दो जंगली जानवरों के लड़ने गर्जने की आवाज आई। राजेन्द्र का दिल धड़कने लगा।

वह उठकर कुटिया से बाहर आया। अमावस्या की काली अँधेरी रात थी। सोचने लगा—कैसी सीमाहीन गहरी कालिमा है! कितनी भयानक! तभी पैरों के पास किसी के सरकने की-सी आवाज आई।

राजेन्द्र ने अंधकार में आँखें गढ़ाकर देखा। सीढ़ियों पर महमूद मियाँ सो रहे हैं और उन्हीं के पास से पाँच-छः हाथ लम्बा काला नाग सरकता सीढ़ियों पर चढ़ा आ रहा है। देखकर आशंका से राजेन्द्र के प्राण काँप गये। वह एक ओर हटकर साँस रोके देखता रहा।

वे नाग देवता चुपचाप सरकते खाली पड़े बिछौनों पर विश्राम करने की लालसा लिये कुटिया के अन्दर जा विराजे।

राजेन्द्र ने धीरे से आगे बढ़कर महमूद मियाँ को जगाया। वे करवट बदल कर आँखें मसलते बोले—

"नींद नहीं आती?"

राजेन्द्र ने धीरे से कहा—"कुटिया में साँप बैठा है। बाहर चीते-बघेरे गुर्रा रहे हैं और कहते हो कि नींद नहीं आती? यह क्या नींद आने की जगह है?"

सुनकर महमूद मियाँ इस तरह हँसने लगे जैसे बाहर पहाड़ियों पर चीते-बघेरे न होकर कहीं मेंढक टर्रा रहे हैं और कुटिया में जैसे कोई केंचुआ रेंग कर चला आया है।

उन्होंने राजेन्द्र की बाँह खींचकर पास ही बिठा लिया और हँसते-हँसते बोले—

"महाराज! भाग्य में भरोसा है या नहीं?"

"नहीं।"

"मेरी बात पर भरोसा कर पाओगे?"

"हाँ।"

"तो सुनो—जाको राखै साइयाँ मारि न सकिहै कोय।"

"सो तो है लेकिन..."

"बस यह 'लेकिन' ही तो है जो हमें किसी बात पर ईमान नहीं लाने देती। महाराज! यह बगीचे का पुराना नाग है। हमारे बाप दादों के जमाने से यहीं रहता आ रहा है। किसी से कुछ नहीं कहता। एक बार तो मेरी छाती पर से सरक गया और मैं चुपचाप आँखें खोले देखता रहा, सो तुम उससे बिलकुल मत डरो।"

सुनकर राजेन्द्र के रोंगटे खड़े हो गये। बोला—"सो ठीक है भाई! लेकिन मैं अब वहाँ नहीं सो पाऊंगा।"

आकाश की ओर देखते-देखते मियाँ महमूद बोले—"अब तो रात भी ज्यादा नहीं है। वह देखो आसमान के सातों सितारे नीचे पहाड़ी पर जा पहुँचे हैं। थोड़ी देर और सो लो।"

"नहीं भाई। उन नाग देवता से चाहे तुम्हारी कितनी ही पुरानी जान पहिचान हो और चाहे वे कितने ही भले हों पर अब मैं यहाँ नहीं सो पाऊँगा। मुझे तो लगता है जैसे मेरी पीठ पर ही फन फैलाये जीभ लपलपा रहे हैं।"

"अच्छा चलो उस तालाब के किनारे चल कर बैठें।" कहकर महमूद मियाँ उठ खड़े हुये।

सुबह का धुंधला-धुंधला उजीता हो उठा था। दोनों तालाब के किनारे पत्थरों पर जा बैठे।

महमूद मियाँ बोले—

"महाराज! तुम्हारे घर में कौन-कौन है सो तो बताया ही नहीं?"

"बड़े भइया हैं। भौजाई हैं। एक भतीजा और दो भतीजियाँ हैं। घर छोड़े दो साल हो गये। शायद भतीजियों की शादियाँ भी हो चुकी होंगी।"

"लेकिन तुम घर छोड़कर भागे क्यों ?"

"क्यों भागा, सो लम्बी बात है। अब तो सुबह होने को है सोचता हूँ उठकर चल दूं। ठंडे-ठंडे में थोड़ी दूर निकल जाऊँगा। आजकल यह बदली की तेज धूप तो मार ही डालती है।"

"कहाँ जायेंगे ?"

"जाना कहाँ है ! जाने की तो यह बात है भाई कि जिस ओर मुंह किये चला जा रहा हूँ अगर उधर पीठ करके चल पड़ूं तो भी इस जाने में कोई अन्तर नहीं पड़ेगा।"

सुनकर महमूद मियाँ हँस पड़े। हँसते-हँसते बोले—"तो फिर किबला ! थोड़े दिन अपने इस गरीब भाई के पास ही क्यों नही टिक जाते। तुम्हारे सफर में तो तब भी कोई फर्क नहीं पड़ेगा ?"

"हाँ, सो तो नहीं पड़ेगा।"

"तो फिर चैन से बैठो और बताओ कि घर छोड़कर क्यों भागे ?"

"अभी नहीं, रात भर उमस के मारे नींद नहीं आई, सोचता हूँ थोड़ा सो लेता।" कहकर पत्थर पर सिर टेक कर वह सोने का उपक्रम करने लगा।

"सो नहीं होगा महाराज !"

"..... ...."

"महाराज !"

"भाई, भागते-भागते अब मैं बहुत थक गया हूँ। दो साल से इसी तरह भागता फिर रहा हूँ। तुम्हारे इस कस्बे में मेरा कुछ काम-काज लग जाय तो थोड़े दिन यहीं टिक जाऊँ।"

"दूसरे के यहाँ काम-काज करके क्या करोगे ? यहीं रहो मेरे साथ बगीचे में।

"सो तो ठीक है लेकिन घर पर भइया अकेले हैं। कितने सालों से गिरस्ती का जहाज अकेले ही खेये जा रहे हैं। मेरी पढ़ाई-लिखाई में अधपेटे रह-रहकर हजारों फूंक दिये। सो कुछ न कुछ तो हर महीने....।" कहते-कहते वह न जाने क्यों बीच ही में चुप हो गया।

थोड़ी देर तक दोनों चुप रहे। फिर महमूद मियाँ बोले—"बस्ती में एक मारवाड़ी डाक्टर मेरी जान-पहचान के हैं। थोड़ी अंग्रेजी पढ़ा-लिखा एक कम्पाउन्डर उन्हें चाहिये। भले ही काम वह न जानता हो। काम वे सिखा लेंगे। सत्तर-पचत्तर महीने का दे देंगे। कहो तो आज पूछ आऊँ ? हाँ, आदमी चारसौ बीस है। लेकिन तुम्हें क्या ? अपने काम से काम रखना। बोलो, करोगे काम ?"

"काम मिलता कहाँ है आजकल। दो साल से यही तो खोजता घूम रहा हूं, सो मना करूंगा ? और फिर....।" कहते-कहते रुक गया फिर न जाने कैसी कृतज्ञताभरी आंखों से अपने उस विजातीय बन्धु की ओर देखने लगा।

२

राजेन्द्र जब पहले दिन उस प्राइवेट डिसपेंन्सरी में कम्पाउण्डर होकर पहुँचा, तब अच्छी तरह सवेरा तक नहीं हुआ था। सारे कमरे बन्द थे।

बाहर दालान में पड़ी एक बेंच पर चुपचाप बैठ गया। पिछली शाम को मारवाड़ी डाक्टर के साथ आकर वह कुछ देख-भाल गया था।

उस बेंच पर बैठा-बैठा सोचने लगा—यह नियति भी क्या बिलकुल अन्धी है? जब नौकरी के लिए द्वार-द्वार भटकता फिरा तो नहीं मिली। कहीं मेरी अयोग्यता बाधा बन गई, कभी जमानत की खाई खुद गई और आज बिना प्रयास के ही पचहत्तर रुपये मासिक पाने वाला कम्पाउण्डर बनकर आ बैठा हूँ। न जमानत न योग्यता ·······।

तभी उसने देखा—हाथ में चाबियों का गुच्छा घुमाती एक युवती डिसपेंन्सरी के बाहर वाला फाटक खोलकर उसी की ओर चली आ रही है। वह अपने किसी ध्यान में डूबी थी। अचानक राजेन्द्र को वहाँ बैठा देख अचकचा गई।

अपनी जीर्ण-शीर्ण धोती इधर-उधर से खींचकर उघड़ा बदन ढकती आगे की ओर बढ़ गई। एक बार मुड़कर राजेन्द्र की ओर देखा फिर ताला खोलकर हवा के झोंके की तरह कमरे में तैर गई।

उसने सारे कमरों के द्वार खिड़कियाँ खोल दीं। फर्श साफ किया। पुरानी मेज कुर्सियाँ पोंछीं। तभी राजेन्द्र कम्पाउण्डर वाले कमरे में जाकर इधर-उधर पड़े ग्रोषधि-मापक-यन्त्र, बीकर शीशियों को देखता-भालता सोचने लगा—

हे जगन्नियन्ता! क्या इस दुनियाँ में सब कुछ पूर्व निश्चित है? मेरा यहाँ ग्राकर इस प्रकार बैठना भी क्या तेरे खाते में पहले से ही दर्ज था। ग्रोर जो ग्रागे होने वाला है सो भी क्या पहले से ही तूने मेरे इस कपाल पर लिख दिया था?

तभी झिझकती-सी वह युवती द्वार पर ग्रा खड़ी हुई। धरती की ग्रोर देखती बोली—"ग्राप ही हैं छोटे डाक्टर बाबू! कल मैं काम पर नहीं ग्राई थी। इसीलिए पहचाना नहीं। कुछ गलती हो गई हो तो माफ कर देना छोटे डाक्टर बाबू!"

राजेन्द्र को लगा जैसे कहीं रामचिरय्या चिहुंक उठी है। उसने मुड़कर युवती की ग्रोर देखा ग्रोर तभी उस युवती की ग्राँखें भी उसकी ग्रोर उठ गईं।

युवती ने पलक झपकाकर जब राजेन्द्र की ग्रोर देखा तो उसे लगा जैसे जन्म-जन्म की गहरी नींद से जगाकर उन घने पलकों की खिड़की से किसी ग्रात्मा ने झाँका है। युवती की उस चितवन में कुछ झीना-झीना बरस रहा था, जो राजेन्द्र को भीतर ही भीतर एक बारगी भिजो गया।

जब वह जाने लगी तो कण्ठ में मन की सारी मधुरिमा घोलकर राजेन्द्र ने पूछा—"क्या नाम है तुम्हारा?"

वह जाती हुई लौट ग्राई। बोली—मेरा नाम रामी है डाक्टर बाबू!"

उस छोटे मीठे नाम को सुनकर राजेन्द्र को लगा जैसे हृदयनाम की

जो वस्तु इस छाती में दिन-रात धड़कती रहती है सो बाहर को निकल आना चाहती है।

तभी किसी की पदध्वनि सुनाई पड़ी। साथ ही डाक्टर साहब का कण्ठ-स्वर भी सुन पड़ा। राजेन्द्र हड़बड़ाता-सा बाहर आगया।

डाक्टर साहब बोले—"रामी! ऊपर वाला कमरा साफ कर देना आज से यह बाबू उसी में रहा करेंगे।"

× × × ×

डाक्टर बाबू अपना काम समाप्त करके रात के आठ बजे डिसपेंसरी से चले गये। तभी रामी बोली—"छोटे डाक्टर बाबू! आपके कमरे में दीया-बाती कर दी है। चलकर देख लीजिये।"

रामी उजीता दिखाती सीढ़ियों पर चढ़ रही थी और वह पीछे-पीछे संभल-संभलकर सीढ़ियों पर पैर रखता चढ़ता जा रहा था।

कमरे में जाकर राजेन्द्र ने देखा—पूर्व की ओर एक खिड़की है। पश्चिम की दिशा में एक द्वार है। द्वार के सामने ही छोटी-सी छत है।

खिड़की के पास चारपाई पर बिछौना बिछा है। पांयती ओर तह की हुई एक चादर रक्खी है। कोने में पानी से भरा घड़ा रख दिया गया है। तभी रामी ने चारपाई के पास रक्खी छोटी-सी मेज पर लालटेन रख दी।

राजेन्द्र ने बिना उसकी ओर देखे पूछा—"रामी! डाक्टर साहब ने तो कमरा साफ करने के लिए ही कहा था। यह सब कहाँ से जुटा लाई?"

रामी ने उत्तर नहीं दिया। कुछ देर कमरे में सन्नाटा रहा। आंचल से मुंह ढांपे हँसी का वेग रोकती वह बोली—

"छोटे डाक्टर बाबू! बिछौना न बिछाती तो सोते कहाँ? और

पानी के लिए क्या रात को किसी पड़ोसी के बन्द द्वार पर 'थोड़ा पानी देना भाई!' कहकर जा खड़े होते?"

सुनकर राजेन्द्र को भी हँसी आगई पर संकोच के मारे हँस नहीं पाया। वह चुपचाप जाकर बिछौने पर बैठ गया। बैठे-बैठे खिड़की से बाहर आकाश की ओर देखने लगा।

रामी खिड़की के पास आ खड़ी हुई। एक ओर संकेत करती कांपते कण्ठ से बोली—

"वह सामने उस पीपल के पास ही मेरी झोंपड़ी है।"

राजेन्द्र उस पीपल के पास वाली झोंपड़ी को देखते-देखते ही बोला—"अच्छा! रामी तुम्हें देर हो रही होगी। अब जाओ।"

बोली—"जाती हूँ। उस अलमारी में साग और पूड़ियां रक्खी हैं। खा लेना डाक्टर बाबू," कहती-कहती वह चली गई।

आज दोपहर से ही राजेन्द्र की तबीयत ठीक नहीं थी। इसलिए उसने भोजन नहीं किया। बिछौने पर लेटा-लेटा रामी की झोंपड़ी की ओर देख रहा था। तभी देखा कि रामी वहाँ पहुँच गई है।

उसके पहुँचते ही झोंपड़ी का द्वार खुला। द्वार के बाहर एक छोटा-सा दालान है जिस पर फूंस का छप्पर है। रामी के घर में तीन और प्राणी हैं—एक उसकी छोटी बहिन झीनी, बापू और बूढ़ी अंधी अम्मा।

रामी की वह झोंपड़ी डिसपैन्सरी के इतने निकट है कि यदि रात्रि की नीरवता में ध्यान से सुना जाये तो उस ओर की साधारण बातचीत भी मजे में सुनी जा सकती है।

उस रात भी हवा रुकी हुई थी। ऐसी उमस थी कि गर्मी के मारे प्राण निकले जा रहे थे। जब घर वाले खा-पी चुके तो रामी बोली—"झीनी! तू अम्मा के साथ बाहर की खटिया पर लेट जा मैं अन्दर से खाट निकाले लेती हूँ।"

Sri Pratap College

सुनकर झीनी मचलती-सी बोली—

"नहीं दीदी! यही बात तो तुम्हारी मुझे अच्छी नहीं लगती। सारे दिन काम-काज करते-करते थक जाती हो, अब जाकर सो जाओ। मैं बापू को खाना खिला कर सो जाऊँगी।"

"अच्छा तू अंदर से खाट निकाल ला। बापू का क्या ठीक, रात को आयें न आयें।"

× × ×

तीनों जने दालान के बाहर लेटे थे। माँ अलग लेटी थी। रामी और झीनी एक चारपाई पर सो रहे थे।

कितनी ही देर तक राजेन्द्र अंधकार में आँखें गड़ाये आँगन में लेटी उन माँ बेटियों को देखता रहा।

सोचने लगा—यह रामी जो बिना कहे उसके खाने-पीने, रहने-सहने का इन्तज़ाम करके दिन भर की हारी थकी उस आँगन में जा लेटी है सो उसे आज ऐसा क्या कुछ दे गई है कि भुलाये नहीं भूलती।

उधर देखते-देखते सोचने लगा—क्या है यह मनुष्य? जीवन की इस मरु-मरीचिका में प्यासे मृग की भाँति दिन-रात दौड़ा जा रहा है। क्यों? किस ओर? सो कौन जानता है? और फिर कभी मन में भर उठता है रस-रस, बूंद-बूंद करके किसी के निकट जा पहुँचने के लिए प्रच्छन्न दर्द!

तभी ध्यान आया उस म्लेच्छ बन्धु का जो इसी समय साँप-बिच्छुओं से भरे बगीचे में भाग्य-भरोसे न जाने कहाँ कैसे पड़ा होगा। कहता था—'दिन भर तो काम-काज में उलझा रहता हूँ लेकिन रात होते ही मन दर्द से भर उठता है।' पर आज मेरे मन में यह कैसी पारस-मणि-सी आ समाई है कि जिसे छू-छू कर मेरा यह दर्द भी मीठा-सा हो उठता है?

३

पिछली रात बहुत देर तक उसे नींद नहीं आई थी सो उठने में देर हो गई। तभी कानों में भनक पड़ी। कहीं कोई गुनगुना रहा था—

"चलो रे मन ! गंगा-जमुना तीर !"

आँखें मूंदे ही सोचने लगा—तो क्या सभी के मन में कहीं प्रछन्न फोड़ा पकता रहता है। सभी को रह-रहकर यही दर्द चिकोट उठता है। तब अन्दर ही अन्दर कहीं दूर चल देने के लिए कोई पुकार उठता है—

चलो रे मन ! गंगा जमुना तीर !

कमरे में झाड़ू देती-देती रामी ही गुनगुना रही थी। पूर्व की खिड़की से गुलाबी किरणें आ-आकर रामी के पीले चेहरे पर न जाने ऐसा क्या बिखेर जाती थीं कि पर-नारी को इस प्रकार देखना महापाप मान कर भी उस लोभ का वह संवरण न कर पाया।

झाड़ू देती-देती सुधबुध खोई-सी धीरे-धीरे रामी गुनगुना रही थी। किन्तु मन उसका वहां नहीं था। उसके हाथ-पैर हिल-डुल रहे थे जैसे निष्प्राण यंत्र के कल-पुर्जे हों।

राजेन्द्र ने ध्यान से उसकी ओर देखा। उसके माथे पर चोट के कारण खून छलक रहा है। उसके चारों ओर मांस नीला होकर उभर आया है।

उसी समय रामी बोली—

"क्या देख रहे हैं डाक्टर बाबू ?"

राजेन्द्र को लगा जैसे अपराध करता हुआ वह पकड़ा गया है। उसका मुंह फक पड़ गया।

वह बुद्धिमती रामी राजेन्द्र के मन का भाव भली-भांति समझ गई। तभी ओठों से हँसी दबाती बोली—

"ममता करना तो पाप नहीं है डाक्टर बाबू !"

राजेन्द्र को इस बात का कोई भी जवाब नहीं सूझा। मन ही मन सोचने लगा—इतनी स्पष्ट और प्रांजल भाषा में इतनी बड़ी बात कहकर निर्लिप्त भाव से जो बुहारी लगा रही है, सो क्या मात्र बुहारी देने वाली नौकरानी ही है ?

तभी रामी ने साफ करने के लिए अलमारी खोली। अलमारी में ज्यों की त्यों रखी पूड़ियों को देखकर रुआँसी-सी बोली—"किसी का छुआ नहीं खाते सो रात ही क्यों नहीं बता दिया ? लेकिन डाक्टर बाबू ! मैंने तो सुना था आप........।"

राजेन्द्र ने संदिग्ध स्वर में पूछा—"क्या ऽऽऽ"

"यही कि आप छुआछूत नहीं मानते।"

वह आश्चर्यचकित हो पूछ बैठा—"रामी ! तुम तक यह खबर कैसे जा पहुँची ?"

सुनकर लाज के मारे रामी का मुंह लाल हो उठा। कुछ देर अलमारी का किवाड़ थामे खड़ी रही। उसके होंठ कुछ कहने के लिए बार-बार हिल उठते थे पर बोली नहीं। कुछ देर पलक झपकाती उन पूड़ियों की ओर देखती रही फिर बोली—"मैं नहीं जानती थी डाक्टर बाबू•••।" कहते-कहते वह जाने लगी।

बीच ही में राजेन्द्र बोल उठा—"रामी।"

जाते-जाते रुककर बोली—"जी डाक्टर बाबू !"

"बुरा मान गई ? बात यह थी कि—।"

वह बीच ही में बोली—"डाक्टर बाबू, अनपढ़ हूं लेकिन इतनी नासमझ नहीं हूं कि भूल करके ऊपर से बुरा भी मान जाऊं। न जाने क्यों सदा ही में अपनी जाति भूल जाती हूं। लेकिन वे तो कभी झूठ नहीं बोलते।" कहकर वह फिर लजा गई।

"कौन ? किसकी बात कह रही हो तुम ?"

"कुछ नहीं डाक्टर बाबू, मैं अभी आती हूं।"

कहकर वह फिर जाने लगी।

तभी राजेन्द्र आर्द्र कण्ठ से बोला—"रामी ! मेरी तबियत ठीक नहीं थी इसीलिए नहीं खा सका। देखो, मैं पाप-पुण्य नहीं मानता। यहां तक कि भगवान् पर भी अटूट विश्वास नहीं कर पाता; लेकिन आज लग रहा है जैसे संसार में अगर कहीं पाप हो सकता है तो यही कि तुम जैसों को कोई छोटा और हेय समझे।"

बीच ही में जैसे वह उफन पड़ी हो। न जाने कैसे संवेग को दबाती, होंठ काटती बोली—"बस डाक्टर बाबू।"

राजेन्द्र बिना उसकी बात सुने बोलता गया—"रामी ! तुम अपनी जाति भूल सकती हो लेकिन इन थोड़े से घंटों में ही मैंने तुम्हें पहिचान लिया है।"

सुनकर रामी के चेहरे पर छाई काली बदली धीरे-धीरे छितरा गई। वह सहज स्वभाव से बोली—

"लेकिन आप लोगों की इस पहिचान का भी कुछ ठिकाना है ?" कहती-कहती उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना ही वह कमरे से बाहर हो गई।

× × ×

इसी तरह राजेन्द्र के खाने-पीने की व्यवस्था से लेकर कमरे की झाड़ू बुहारी आदि छोटे बड़े कामों के साथ अपने सहज हास-परिहास से रामी ने राजेन्द्र को कभी यह महसूस नहीं होने दिया कि वह कहीं परदेश में बस रहा है।

उसे लग रहा था जैसे उसके अन्दर-बाहर एक ऐसी आनन्दमयी दुनियाँ बस गई है कि कब कहाँ एक महीना बीत गया सो उसका पता ही न चला।

वह रोज रामी के चेहरे को स्मरण करता सोता है और उसी के चेहरे को देखते-देखते जागता है।

एक दिन नित्य नियम से निवृत हो वह चारपाई पर बैठा था। तभी रामी ने कमरे में प्रवेश किया। उसके एक हाथ में दालमोठ से भरी तश्तरी थी और दूसरे में चाय का गिलास। वह उस गर्म चाय का गिलास आँचल के पर्तों में सावधानी से दबाये मेज की ओर बढ़ी आ रही थी।

राजेन्द्र को लगा जैसे चाय की उष्णता का अदम्य धर्म आँचल के माया-मोह को तोड़कर रामी की हथेली तक जा पहुँचा है।

वह चारपाई से उठा और हाथ में रूमाल लिये झपटकर उसके हाथ से चाय का गिलास लेने लगा।

रामी ने दाँत से नीचे का होंठ दबाते उसकी ओर देखा फिर चाय का गिलास मेज पर रखकर नाश्ते की तश्तरी उसकी ओर सरकाती बोली—"डाक्टर बाबू, मेरी हथली जलने का इतना ध्यान करोगे तो बहुत दुःख पाओगे, सो बताये देती हूँ।"

कहकर वह दबी हँसी हँसने लगी। सुनकर राजेन्द्र ने एक बार न जाने कैसे करुणभाव से रामी की ओर देखा; लेकिन बोला कुछ नहीं।

कौन जाने बिना कुछ कहे राजेन्द्र ने कितनी बड़ी बात कह दी थी। तभी राजेन्द्र को लगा जैसे रामी वहाँ नहीं है। वह देख रही थी राजेन्द्र की ओर किन्तु उन आँखों का देवता वहाँ नहीं था।

राजेन्द्र हड़बड़ाता-सा बोला—

"रामी!"

वह नींद से जागती-सी बोली—

"क्या हुआ डाक्टर बाबू?"

"बहुत देर हो गई। डिस्पेन्सरी जाना है।"

सुनकर वह जोर से हंस पड़ी। हंसते-हंसते बोली—

"आज इतवार है सो छुट्टी नहीं रहेगी ? चैन से कलेवा करिये।"

कुछ देर दोनों चुप रहे फिर दाल मोठ के कुछ दाने हथेली पर रखकर फांकी लगाता बोला—

"रामी, मैंने एक बार भी नहीं कहा कि मैं तुम्हारी जाति का छुआ खाता हूँ फिर यह चाय, दाल मोठ बना-बनू कर क्यों ले आती हो ? क्यों इतने दिनों से मेरा धर्म भ्रष्ट किये जा रही हो ?"

सुनकर वह चुपचाप उसकी ओर देखने लगी। रामी का चेहरा अति दयनीय हो उठा। इस बार राजेन्द्र को एक नई बात का पता चला कि इस तरह दयनीय होने पर उसके बायें गाल पर हल्का-सा गड्ढा पड़ जाता है।

रामी क्षुब्ध अभिमान के स्वर में बोली—"डाक्टर बाबू, क्या सब कुछ कह सुनकर ही जाना जाता है ?"

राजेन्द्र को लगा जैसे रामी फिर अपने शरीर को छोड़ कर कहीं चली गई है ?

उसने देखा रामी के माथे पर चोट गहरी है। अब तक ठीक नहीं हुई है। सूखे खून की पपड़ी जम गई है।

उस का मन कर रहा था कि हाथ बढ़ाकर उस पपड़ी को पोंछ दे।

तभी रामी बोली—"खाना क्यों बन्द कर दिया डाक्टर बाबू ?"

उसकी बात का जवाब दिये बिना राजेन्द्र ने धीरे से पूछा—"रामी, यह तुम्हारे माथे की चोट अभी तक ठीक ही नहीं हुई ? कैसे लगी थी ?"

सुनकर रामी का चेहरा काला पड़ गया जैसे किसी ने समस्त मुंह पर राख पोत दी हो। वह सब देखकर राजेन्द्र सहम-सा गया।

कुछ देर कमरे में सन्नाटा रहा।

राजेन्द्र ने कनखियों से रामी की ओर देखा। उसके चेहरे का वह भाव बदल गया था। अब लगता था जैसे प्रार्थना—निवेदन की न जाने कैसी स्निग्धता से उसका समस्त चेहरा दीप्त हो उठा है।

धीरे से आर्द्र कण्ठ से बोली—

"डाक्टर बाबू, आपको यहाँ आये मुश्किल से महीना बीता होगा पर लगता है न जाने कितनी सालों से आपको पहिचानती हूँ। ऐसा क्यों होता है?"

सुनकर अचरज से वह बोला—

"रामी, ठीक यही बात अभी-अभी मैं सोच रहा था।"

"सच, डाक्टर बाबू?"

"हाँ, रामी! जानकर तुम्हें अचरज हो रहा है?"

"नहीं, अचरज क्यों होगा? ऐसा तो जाने कितनी बार हुआ है? ऐसा ही होता है डाक्टर बाबू! तब ऐसा ही होता है लेकिन........ लेकिन........।"

राजेन्द्र का मन कर रहा था कि एक बार वह उससे यह पूछे कि चोट की बात पूछने पर वह इतनी उदास क्यों हो गई थी पर पूछने का साहस नहीं कर पाता था।

रामी बोली—

"डाक्टर बाबू, इस दुनिया में कभी-कभी ऐसा भी होता है कि जिस माँ के पेट से जन्म लेते हैं, उससे भी कुछ छिपाना पड़ता है। मेरी इस माथे की चोट के साथ कुछ ऐसी ही बात है।"

कुछ देर चुप रहकर न जाने कैसी शून्य-दृष्टि से उसे देखती-देखती बोली—

"शायद अपने मन की यह बात कभी किसी से न कह पाऊँगी और एक दिन इसी बात को लेकर सदा-सदा के लिए इस दुनियाँ से चली जाऊंगी।" कहते-कहते लगा जैसे फिर वह इस शरीर को छोड़कर कहीं चली गई है। उसका गला भर आया। कुछ देर सिर झुकाये

चुपचाप बैठी रही फिर सिर झुकाये ही अंगूठे के नाखून से धरती कुरेदती बोली—

"डाक्टर बाबू, हम लोग नीच जाति के हैं। पढ़े-लिखे भी नहीं हैं, पर इतना तो में भी समझती हूँ कि किसी से घृणा करना पाप है, पर में क्या करूँ ? मेरे रोम-रोम में इसका विष फैल गया है, सोचती हूँ किसी तरह दिल से यह विष का कांटा निकल जाये तो कुछ दिन चैन की सांस लेकर जी सकूं पर कैसे भी निकलता नहीं।" कहते-कहते उसका गला फिर भर आया।

राजेन्द्र सांस रोके सब कुछ सुनता-सुनता सोचने लगा—किसे इतनी घृणा करती है ? क्या है ऐसा जो किसी को बता नहीं पाता और सब चुपचाप सहे जा रही है ?

तभी रामी ने एक ओर को मुंह फिरा कर साढ़ी के छोर से आंसू पोंछ लिये। फिर कुछ देर चुप रहकर भारी कंठ से बोली—

"डाक्टर बाबू, आत्महत्या से बड़ा पाप इस धरती पर दूसरा नहीं होता। यह जान कर भी शायद किसी दिन वही पाप में कर बैठती पर जब अपनी छोटी बहिन झीनीं का मुंह देखती हूँ तो मरा भी तो नहीं जाता। ऐसी भोली लड़की इस धरती पर खोजे नहीं मिलेगी। डाक्टर बाबू! क्या करूँ न जी पाती हूँ न मर पाती हूँ। सोचती हूँ कि मैं मर गई तो यही सब मेरी झीनी को भी झेलना पड़ेगा। क्या करूँ? कहते-कहते वह सुबक उठी।

रामी के उस करुण-कण्ठ-स्वर में निदारुण वेदना और किसी के लिए अपरिसीम ममता मिश्रित वात्सल्य फूट-फूट पड़ता है।

ऐसा कण्ठ-स्वर जिसने एक वार भी जीवन में सुन पाया है सो क्या मृत्यु पर्यन्त भूल पाना सम्भव है?

मन ही मन सोचने लगा—में किसी तरह इससे बचना चाहता हूँ पर कैसी है यह मोहमयी नारी ? क्यों धीरे-धीरे अपने जीवन के साथ मुझे जकड़े जा रही है?

सहसा वाहर से किसी का धीमा-सा कण्ठ-स्वर सुनाई दिया—

"दिदिया!"

लगा जैसे कानों के पास ही किसी ने बेला के तार स्वरों को छेड़कर एक छोटी-सी, हल्की मीठी भुरकी भर वजाई हो—'दिदिया!'

सुनकर रामी हड़बड़ाती-सी आँचल के छोर से आँसू पोंछती भारी गले से वोली—"झीनी! अन्दर आजा।"

राजेन्द्र ने द्वार की ओर देखा। वह छिपी खड़ी थी पर उसकी धानी रंग की साड़ी का छोर हवा से उड़-उड़कर दिख जाता था। तभी रामी लाड़-भरे स्वर में कृत्रिम क्रोध प्रकट करती वोली—

"जलमुंही! वाहर क्यों खड़ी है? अन्दर जा।"

"नहीं दिदिया तुम वाहर आकर सुन जाओ।"

रामी उठी और हँसती झुंझलाती उसे कमरे में खींच लाई। फिर वोली—

'हे भगवान्! न जाने इस लड़की का क्या होगा? इतनी लाज शर्म क्या अच्छी होती है? जा पैर छू। छोटे डाक्टर वावू ऊँची जाति के वामन देवता हैं।"

उस सबको देख सुनकर राजेन्द्र का दम घुटा जा रहा था। मन कर रहा था कि उठकर भाग जाये। तभी झीनी सिर झुकाये, लजाती-हिचकती आगे वढ़ी। उसने अपनी कांपती कोमल अंगुलियों से राजेन्द्र के पैर छूकर माथा टेक दिया, फिर लजाती, शर्माती वाहर भाग गई।

झीनी के उस स्वर में क्या था? राजेन्द्र को कैसा लगा सो सव भाँति-भाँति की शव्द योजना से नहीं वताया जा सकेगा, जैसे—रोमांच हो आया, रोंगटे खड़े हो गये. विजली का तार छू गया, सारा शरीर झनझना उठा। नहीं, इन सवसे काम नहीं चलेगा।

इस शरीर की अनुभूति को शव्दों में प्रगट किया जा सकता है किन्तु कभी-कभी इस धरती पर ऐसा भी होता है कि किसी का पहिला स्पर्श ही शरीर के रोम-राम में व्याप्त उस आत्मा को भी छू लेता है।

तब उस अनुभूति को व्यक्त करने के लिए शब्द भी छटपटा कर रह जाते हैं। भाषा पँगु होकर लड़खड़ा जाती है। राजेन्द्र के लिए ऐसा ही था झीना का वह प्रथम स्पर्श !

झीनी और दिदिया दोनों चली गईं। राजेन्द्र चारपाई पर लेटा-लेटा सोचने लगा—जीवन के इन पिछले दिनों में उसके साथ जो कुछ भी घट गया है सो उसपर कोई भी विश्वास कर सकेगा ? हाँ, कभी-कभी सिनेमा घर के पर्दे पर ऐसी बातें देखने सुनने को मिल जाती हैं पर सचमुच के जीवन में तो ऐसा नहीं होता।

जाने क्या-क्या सोचता विचारता अपने आप ही हँस पडा। फिर विचार आया—कैसे मुहूर्त में उस सोन नदी को पार करके गंगा-सागर बस्ती की इस सीमा में पैर रक्खा था। लगता है जैसे यहाँ प्रीति-प्रेम के सरोवर हैं और जगह-जगह सहज स्नेह की झीलें लहरा रही हैं।

उसे महमूद मियाँ की एक बात याद हो आई। पिछले दिनों जब एक दिन उनकी बगीची में गया तो बस्ती के गंगा-सागर नाम को लेकर बात छिड़ गई। उसने कहा था—किसी बस्ती के नाम के पीछे 'नगर' न लगाकर 'सागर' लगाने में क्या तुक है ? इस बस्ती को 'गंगानगर' न कहकर 'गंगासागर' क्यों कहते हैं ?

उसकी बात सुनकर महमूद मियाँ मन ही मन मीठा-मीठा मुस्करा उठे थे। फिर होंठों ही होंठों मुस्कराते बोले थे—"महाराज ! इधर टिक गये तो कुछ ही दिनों में जान जाओगे कि हम लोगों के पुरखों ने बिना सोचे समझे यह नाम नहीं रक्खा था।"

अब लगता है महमूद मियाँ की बात कितनी सच थी। इस 'सागर' की जो दो लहरें आकर अभी-अभी उसे भिजो गई हैं सो क्या महमूद मियाँ भी इस रसतत्व से परिचित है?

राजेन्द्र महमूद मियाँ के पास जा पहुँचने के लिए व्याकुल हो उठा।

उसने निश्चय किया कि ग्राज महमूद मियाँ के बगीचे में जाकर नहाधोकर वहीं उनके साथ खायेगा पीयेगा। उनसे कहने के लिए कितनी ही बातें उसके ग्रन्दर ही ग्रन्दर छटपटा रही हैं। वह उठकर जाने के लिए तय्यार होने लगा। तभी सीढ़ियों पर किसी की पगध्वनि सुनाई पड़ी।

४

राजेन्द्र महमूद मियाँ के यहाँ जल्दी से जल्दी जा पहुँचने के लिए मन ही मन बेचैन हो उठा था। तभी डिस्पैन्सरी के स्वामी डाक्टर बाबू कमरे के द्वार पर आ खड़े हुये।

उन्हें असमय वहाँ देखकर राजेन्द्र को बहुत बुरा लगा पर मन के इस भाव को तुरन्त ही दबा गया। स्वागत भरे स्वर में बोला—'आइये डाक्टर साहब !' उन्हें आदर पूर्वक चारपाई पर सिरहाने की ओर बिठा कर स्वयं पाँयती ओर जा बैठा।

डाक्टर साहब इस बस्ती के ख्याति प्राप्त कृपण व्यक्ति हैं। चाहे कोई कितना ही निस्सहाय दीन होकर उनके सामने याचक हो हाथ पसारे तो अंटी से एक पैसा निकाल कर देने में उनकी छाती फट जाती है किन्तु किसी को भी मुफ्त सलाह देने में वे कभी कंजूसी नहीं करते।

एक तरह से कहना चाहिये कि बिना माँगे जिस किसी को राय और उपदेश देना उनका दिनरात का व्यसन हो गया है।

थोड़ी देर इधर उधर की बातें कह सुनकर डाक्टर साहब ने नीचे से ऊपर तक ऐनक के भीतर से राजेन्द्र को चुभती दृष्टि से देखा फिर कंठ में मिठास भरकर बोले—

"कई दिनों से तुम्हें कुछ बातें समझाना चाहता था पर मौका ही नहीं मिला। देखो भाई ! तुम अच्छे घर के लड़के हो, इसीलिए

समझाता हूँ। जीवन में यदि ऊँचा उठना चाहते हो तो कुछ बातें मुझ से सीख लो।

पहिले मैं अपनी बात ही बताता हूँ। कुछ सालों पहिले केवल लुटिया-डोर लेकर इस बस्ती में मारवाड़ से आया था और आज इस थोड़े से समय में ही एक कोठी बनवा ली। मोटर खरीद ली। पचास बीघा का एक खेत अभी-अभी कुर्क करवाया है।"

हँसते-हँसते अभिमान भरे स्वर में बोले—"यह भी एक दिलचस्प किस्सा है, फिर कभी सुनाऊँगा कि कैसे पटवारी को दो सौ रुपये दे दिलाकर दो हजार का खेत कब्जे में कर लिया।

भाई ! यही है, बस यही !! इसी को अंग्रेजी में 'टैक्ट' कहते हैं। तुम भी बस यही टैक्ट सीखो—टैक्ट !

अब लोग कहते हैं—'बुरा किया, पाप लगेगा जमीन का मालिक वह डोम और उसकी माँ भूखों मर रहे हैं। गरीब की हाय बुरी होती है पर मैं क्या इन बातों से डरता हूँ !

अरे भाई ! दुनियाँ में सब यूँही चलता है। थोड़े दिनों बाद इस खेत की बात कौन याद रखेगा ? सब भूल जायेंगे, और फिर चुनाव होने पर हमी एक दिन बस्ती के सरपंच बनेंगे।

तुम्हीं देखो आज हमारी इस नई सरकार में गांव के सरपंच कौन हैं ? म्युनिस्पैलिटियों में कौन प्रधान है ? और ये एम० एल० ए० कौन हैं ? अरे क्या चुनाव ईमानदार भिखमंगे जीतेंगे ?

चुनाव के लिए चाहिये रुपया और रुपया मिलता है टैक्ट से। शहरों में जो दानवीर, धर्मवीर सेठों के धड़धड़ाते कारखाने चल रहे हैं जगह-जगह जो उनकी आलीशान कोठियाँ बनती चली जा रही हैं सो क्या ईमानदारी और धर्म की राह पर चल कर ?

कौन है ईमानदार, धर्मात्मा ? राजेन्द्र बाबू ! दुनियाँ में सब यूँही चलता है। फिर बेईमानी करने के लिए भी हाथ भर का कलेजा

चाहिये। रुपया किसे बुरा लगता है पर सब कोई धनवान क्यों नहीं बन जाते ?''

डाक्टर बाबू धड़ल्ले से छाती फुलाये बोले चले जा रहे थे। बार-बार उमंग में भर-भर कर राजेन्द्र का कंधा पकड़ कर झकझोर देते थे और राजेन्द्र चुपचाप अन्दर ही अन्दर जलता-भुनता ऊपर से 'हाँ हूँ' करता बैठा सब सुने जा रहा था।

तभी एक छोटी-सी चिड़िया चारपाई के पास रखी मेज पर आ बैठी। एक दो बार इधर उधर उछल कूदकर एक पतंगे को चोंच में दबाकर उड़ गई।

उसे देखकर डाक्टर बाबू भावावेश के कारण गद्-गद् हो उठे। उसकी बांह झकझोरते बोले—

"अब तुम इसी गौरय्या को ही देखो। इस पतिंगे को मार कर क्या इसने पाप किया है ? अरे इन छोटे-मोटे कीड़े पतिगों को मार कर अपने चेंचलों की प्राण-रक्षा करना क्या पाप है ? अरे भाई ! यह तो प्रकृति का नियम है। इसी को शास्त्र में 'मत्स्य न्याय' कहा गया है। पानी में बड़ी मछली छोटी मछली को खाकर ही तो जीवित रह पाती है।

मेरे भी तो सात लड़कियां और तीन छोटे लड़के हैं, सो जैसे-तैसे, सांच-झूठ का सहारा लेकर उनका लालन-पालन करना क्या पाप है ? नहीं भाई। मैं छाती ठोंक कर कह सकता हूँ—यह कभी अन्याय नहीं हो सकता।

वे शास्त्रज्ञ, तर्क चूड़ामणि विज्ञ महाशय जिस तरह जैसी-जैसी शास्त्र सम्मत उक्तियां दे-देकर अपनी उस दुर्नीति को प्राणपण से सुनीति सिद्ध किये जा रहे थे सो राजेन्द्र के लिए असह्य हो उठा।

उधर डाक्टर बाबू छल प्रपंच से उपलब्ध अपनी सफलताओं और उससे मिली अपनी महा महिमा का बखान करते थकते नहीं थे, पर राजेन्द्र के कान उन्नति के उन जीवन-सूत्रों को किसी भी तरह नहीं सुन

पा रहे थे। उसके प्राण जा पहुँचे थे उस अभागे डोम और उसकी वुढ़िया माँ के पास, जो अपनी एक मात्र सम्पत्ति, उस खेत को खोकर कहीं उसी की मेड़ पर सिर धुन धुनकर रो-कलप रहे होंगे।

तभी डाक्टर बाबू राजेन्द्र के और निकट खिसक कर फुसफुसाये—"देखो भाई ! हट्टे-कट्टे, गोरे चिकने जवान हो सो जरा इस शहर की चंचल छोकरियों से बचकर ही चलना। अपने धर्मशास्त्र में सदाचरण की कैसी क्या महिमा है सो तुम अभी नहीं जानते।" और राजेन्द्र का जी मितलाने लगा। डाक्टर के मुंह से शराब की भरपें निकल रही थीं। —कैसी तीखी दुर्गन्ध !

राजेन्द्र धीरे-धीरे पीछे की ओर खिसकता जाता था और डाक्टर बाबू बातों की उमंग में आगे की ओर बढ़ते जा रहे थे। अपनी उन बातों में उत्तरोत्तर उनका रस बढ़ता ही जा रहा था।

अब तक वे पैर लटकाये जूते पहिने चारपाई पर बैठे थे। अब सदाचरण को लेकर जो चंचल छोकरियों का प्रसंग छिड़ा तो उनका उत्साह सीमा को पार कर गया। उन्होंने जूतों के तस्मे खोले और जूते उतार कर एक ओर रख दिये।

डाक्टर बाबू अच्छी तरह जमकर, पालती मारकर बिछौने पर बैठ गये। तकिया खींचकर गोदी में रख लिया फिर तकिये पर दोनों कुहनी जमाकर धारा प्रवाह बोलने लगे।

उधर राजेन्द्र को लग रहा था जैसे कोई उसकी गर्दन दबाये कड़वी दवा के घूंट पर घूंट जबरदस्ती पिलाये जा रहा है।

तभी उसका कंधा झकझोर कर वे बोले—"भाई ! शास्त्र में पर निन्दा को पाप माना गया है पर तुम्हारे लिए वह भी करना होगा। तुम अब कोई गैर थोड़े ही हो। अपने ही लड़के हो। देखो, यह जो रामी भीनी हैं सो सब बदजात हैं। इनका कोई धर्म कर्म थोड़े ही है। इन्हें तो बस रुपया चाहिये...... रुपया। सुनता हूँ आजकल तुम्हारा

इनसे कुछ ज्यादा ही मेल जोल बढ़ता जा रहा है।""""अब तुम से क्या छिपाऊँ एक दिन तो रामी ने"""""

सब कुछ सुनने देखने की अपनी-अपनी सीमा होती है किन्तु डाक्टर साहब ने अन्त में जो प्रसंग छेड़ा सो वह किसी भी प्रकार न सह पाया। उसके शरीर की सारी नसें तन उठीं; किन्तु यह जो नौकर और मालिक का प्रेमपूर्ण सम्बन्ध है उसका क्या करें ?

सोचने लगा—यह नौकर मालिक का सम्बन्ध भी सब सीमाओं से ऊपर है। सबसे ऊँचा। इसमें सब कुछ सहना होता है। न सहो तो प्रेम की वह सुनहली साँकल न जाने कब कच्चे धागे की तरह टूट जाये इसका भी कोई ठिकाना है ?

राजेन्द्र को भगवान् पर विश्वास नहीं है पर ऐसे मौकों पर वह उन्हीं को पुकार उठता है। मन ही मन पुकार उठा—"हे जगदीश्वर ! कैसे भी आज इस विज्ञ-सदाचारी-ग्राह से मुझ गज की रक्षा कर लो।"

तभी डाक्टर बाबू को न जाने क्या अचानक याद हो आया। वे हड़बड़ाते चारपाई से उठ खड़े हुये और जूता पहिनते-पहिनते बोले—

"अच्छा भाई ! आज तो चलता हूँ अगले किसी रविवार को बैठक जमेगी। तुमसे बातें करके चित्त प्रसन्न हो गया। आज तो बातों में ऐसा डूबा कि एक जरूरी काम ही भूल गया। आज घर पर दरोगाजी को दावत दी थी। और मैं यहाँ आ बैठा। कैसा आदमी हूँ ?"

चलते-चलते बोले—"सच, भाई! कभी-कभी तो अपनी इस आदत से बहुत कष्ट होता है। दूसरे का कहीं कुछ बिगड़ता दिखाई देता है तो सदा अपना जरूरी से जरूरी काम भी भूल जाता हूँ।"

कहते-कहते वे सीढ़ियों से उतरते चले गये और राजेन्द्र एक दबी उसाँस छोड़ कर चारपाई पर बैठ गया। न जाने क्यों महमूद मियाँ के पास जा पहुँचने का उसका सारा उत्साह ठंडा पड़ गया।

उसे लगा जैसे थोड़ी देर पहिले उसके चारों ओर जो स्नेह-प्रेम के झरने झरझर कर स्वर्गीय संगीत की सृष्टि कर रहे थे, सो सब मिट

गये हैं। अब वे स्नेह के सरोवर और रस की लहराती झीलें उसे कहीं भी नहीं सूझती। लगता था जैसे सब ओर सब ठौर सूखी धूल उड़ रही है।

वह चुपचाप बिछौने पर लेट गया। लेटा-लेटा सोचने लगा—रामी झीनी की बात क्या सच है? तभी उसे बचपन में याद किया एक श्लोक का पद याद आया—'विभुक्षतः किन्न करोति पापम्'

तो क्या गरीबी भुखमरी में सब प्रकार के पाप शक्य हैं?

डाक्टर तो यही कहता था कि इनका कोई धर्म कर्म नहीं है। इन्हें तो रुपया चाहिये, ''........रुपया........''। सोचते-सोचते उसका सिर चकराने लगा।

धीरे-धीरे न जाने किन-किन सूत्रों को जोड़-जोड़ कर इस निश्चय पर आ पहुँचा कि डाक्टर की उन अनर्गल पाखण्ड भरी बातों में से एक सत्य अचानक ही उसकी पकड़ में आ गया है कि—

—रामी झीनी चरित्र हीन हैं!

सोच-सोचकर न जाने क्यों चारपाई पर पड़ा-पड़ा छटपटाने लगा। उसे लगा जैसे उसके अन्तस्तल में ही कहीं विवेक का सर्प फन फैलाये धीरे-धीरे ऊपर की ओर उठता आ रहा है।

विवेक का वह सर्प फुंकार-फुंकार कर उसे सचेत करने लगा—

राजेन्द्र! तू परदेश में है। बड़े भइया अकेले उस भारी गृहस्थी का जहाज कब तक खींचते रहेंगे? नहीं, तुझे इन छोकरियों से बचकर ही चलना होगा। न जाने इन बातों को लेकर कब कहाँ झगड़ा उठ खड़ा हो और तू भारी संकट में फंस जाये। जो कुछ आगरे में कर आया है सो उससे तो अभी तक तुझे छुटकारा मिला नहीं और अब नई मुसीबत में जा पड़ने के लिये खुद ही बैठा-बैठा जाल बुनने लगा है। सावधान! राजेन्द्र सावधान!!

———

Library Sri Pratap College
Srinagar

५

जब से डाक्टर बाबू उसके यहाँ से उठकर गये हैं तभी से उसका माथा दुख उठा है। वह एक हाथ से माथा दबाये न जाने कैसी-कैसी बातें सोचे जा रहा था।

तभी भोजन की थाली लिये रामी ने कमरे में प्रवेश किया। थाली उसने मेज पर रख दी। भोजन की थाली एक दूसरी थाली से ढकी थी। पके चावलों की सुगन्ध धीरे-धीरे राजेन्द्र के नासिका रन्ध्रों में आ-आकर उसकी सोती भूख को जगाने लगी किन्तु मन की भूख जो इस शरीर की भूख से भी बडी है उसका क्या करें ? राजेन्द्र ने उस थाली की ओर ताका तक नहीं।

रामी ने पानी से भरकर गिलास मेज पर रख दिया फिर मुसकाती-सी बोली—

"छोटे डाक्टर बाबू ! आज इतवार है सो क्या उठेंगे ही नहीं ? उठकर हाथ पैर धो लीजिये। तभी ध्यान से उसने राजेन्द्र का चेहरा देखा। उसका वैसा गम्भीर कठोर चेहरा देख कर रामी कुछ देर मुंह बाये चुपचाप खड़ी रही फिर वहीं मेज के पास धरती पर बैठ गई।

कुछ देर चुपचाप अँगूठे के नाखून से धरती खरोचती रही फिर साहस बटोरकर बोली—

"डाक्टर बाबू ! खाना ठंडा हुआ जा रहा है। उठकर खा लीजिये न !"

"..........................।"

"क्या मुझ से कुछ गलती हुई है ? लकड़ी गीली थीं इसी लिये बनाने में देर हो गई। अब कभी देर नहीं होगी। डाक्टर बाबू ! उठिये न !"

"..........................।"

"आज क्या हुआ है आपको ?"

तभी राजेन्द्र फूट पड़ा—"रामी ले जाओ इस थाली को। मुझे नहीं खाना है।"

रामी को लगा जैसे किसी ने उसके मुंह पर जोर से थप्पड़ मारा हो। उसके कानों में न जाने कैसी 'सू.........सू.........' सी होने लगी। वह रुंधे कंठ से बोली—

"क्या बात है ?"

राजेन्द्र ने आक्रोश भरे क्षुब्ध स्वर में कहा—"तुम्हें रुपया चाहिये न रुपया ! मेरे पास रुपये नहीं हैं !"

"लेकिन मैंने तो आपसे रुपये नहीं मांगे।"

"मैं सब समझता हूं। मैंने भी दुनिया देखी-भाली है। रामी ! मैंने गांव-गांव, शहर-शहर की खाक छानी है। तुम मुझे धोखा नहीं दे सकती।"

"झीनी कहती थी कि बड़े डाक्टर बाबू आज यहां आये थे। क्या उन्होंने ही मेरे बारे में कुछ कहा सुना है ?"

"हां आये थे और मैं भी मूर्ख नहीं हूं।"

सुनकर उस रुंआसी रामी को हंसी आ गई। दांतों से नीचे का होंठ दबाकर हंसी रोकती बोली—"बस ! इतनी-सी बात पर मुझ से रूठ गये ? क्या क्या कहा था मेरे बारे में ? कहते होंगे—ये लड़कियां अच्छी नहीं हैं। इनसे बचकर रहना। यही सब तो कहा होगा। क्यों

छोटे डाक्टर बाबू ! मैं तो समझी आज आपको हो क्या गया है। अब सांस में सांस आई। हे राम !"

उस अपरिसीम आनन्द—वेदना में डूबती उतराती रामी को देख कर राजेन्द्र उसे मुंह बाये देखता का देखता रह गया।

रामी उदास हँसी-हँसती बोली—"सच, यही है आप लोगों का स्वभाव। बदलते देर नहीं लगती। छोटे डाक्टर बाबू ! एक दिन आप ही ने तो कहा था—'रामी ! तुम्हारी जाति मैंने पहिचान ली है। तो क्या इतनी जल्दी भूल गये ? आज किसी ओर से हल्का-सा झोंका आया और सब कुछ उड़ गया। क्यों डाक्टर बाबू ! है न सच ?"

सुनकर राजेन्द्र अन्दर ही अन्दर टूट गया। उसका रोम-रोम धिक्कार से भर उठा। बोला—"रामी ! मैं कुछ भी समझ नहीं पाता क्या करूँ ?"

वह हँसी दबाती बोली—"यही करो कि पहिले खाना खालो। ठंडा हुआ जा रहा है।"

कुछ देर राजेन्द्र चुप बैठा रहा। कुछ भी खाने का मन नहीं कर रहा था ; पर रामी के उस अनुरोध का किसी भी तरह न टाल पाया। उठकर हाथ मुंह धोया और थाली खींचकर धीरे-धीरे खाने लगा।

रामी राजेन्द्र की ओर देखती-देखती बोली—"डाक्टर बाबू, हम गरीब हैं। छोटी जाति के हैं। न जाने लोग हमारे बारे में कैसी-कैसी उलटी सीधी बातें कहते-सुनते हैं, लेकिन हम क्या करें ?

गाँठ में इतना पैसा भी तो नहीं है कि कचहरी में जाके फरियाद करें।' कहते-कहते उसका गला भर आया।

थोड़ी देर चुप बैठी रही फिर बोली—"डाक्टर बाबू, जो चुप रहकर सहता है, क्या तुम्हारे सामने भी वही झूठा है ? अच्छा, आप नहीं चाहते तो कल से मैं नहीं आऊँगी।" कहते-कहते अँगूठे के नाखून से धीरे-धीरे माटी खरोंचने लगी; फिर उठकर भरांये कण्ठ से बोली—

"जाती हूँ।"

तभी राजेन्द्र ने थाली एक ओर सरका कर उसकी ओर देखते-देखते टूटे स्वर में कहा—

"रामी।"

रामी ने उसके चेहरे पर न जाने ऐसा क्या देखा कि रामी का वह मुरझाया चेहरा उल्लास की दीप्ति से भर उठा। रामी रुकी नहीं। न जाने कैसी क्षमा पूर्ण वत्सल चितवन से उसकी ओर देखती-देखती वहाँ से चली गई।

× ×

उसी दिन जब साँझ को उस म्लेच्छ बन्धु के बगीचे में पहुँचा तो साँझ की धुंध छितरा गई थी।

आकाश में चाँद उदय हो रहा था। उसकी रुपहली किरणें लताकुंज और आम्रपत्तों में से छन-छन कर धरती के घने अँधकार पर झीनी-झीनी चाँदनी बरसा रहीं थीं।

महमूद मियाँ कुटिया से बाहर तख्त बिछाये चुपचाप बैठे थे। राजेन्द्र को देखते ही वे स्वागत भरे स्वर में दूर से ही चिल्लाकर बोले—

"आइये किबला आइये!!"

जब वह पास पहुँचा तो बोले—"कहो भाई कैसे हो? आओ बैठो।"

"आपकी महरबानी से ठीक ही हूँ।"

"इतने दिन तक कहाँ रहे?"

"रहता कहाँ? बस यूं ही आ ही नहीं पाया। हाँ भाई! उस गीध की चोंच जैसी नाक वाले ने तो आज मार ही डाला था।"

"कौन? किसने?"

"अरे वही तुम्हारा डाक्टर।"

सुनकर महमूद मियाँ ठहाका मार कर हँस पड़े। हँसते-हँसते बोले—"वल्लाह! क्या मिसाल दी है 'गीध की चोंच' कमाल! कमाल!! जी करता है महाराज तुम्हारे हाथ चूम लूं। लेकिन अभी छू नहीं

सकूँगा।" कहते-कहते न जाने क्यों महमूद मियाँ एकदम चुप्पी लगा गये।

फिर अपने ही आप वार-बार ठहाका मार-मार के जाने कैसी बिना सिर पैर की बातें सुनाने लगे।

राजेन्द्र को लगा जैसे उनकी हँसी के वे ठहाके वैसे नहीं हैं जिनमें शिष्टता के कूल किनारे तोड़ कर आनन्द का बरसाती महानद लहरा उठता है। वह ऐसी स्वाभाविक सहज हँसी नहीं है जिसमें उल्लास के स्रोत फूटते हैं और उमंग के झरने झर झरकर कुछ गुनगुना उठते हैं।

राजेन्द्र बैठा-बैठा मन ही मन सोचने लगा—इस निरीह मानव के मन में आज कैसा भूचाल मचल उठा है। क्या हुआ है इसे ?

फिर न जाने कैसे-कैसे सन्देह, कैसी-कैसी आशंकाओं का घटाटोप उसके अन्दर ही अन्दर आ-आकर जुड़ने लगा।

तभी राजेन्द्र बोला—"क्यों भाई ! आज तुम्हें हुआ क्या है ?"

सुनकर उन्होंने कोई जवाब नहीं दिया। चुपचाप बैठे नदी की ओर देखे जा रहे थे।

राजेन्द्र बोला—"सारा दुःख अकेले ही क्यों झेलते हो ? थोड़ा-सा मेरे साथ क्यों नहीं बाँट लेते ? क्यों हो इतने खुदगर्ज ?"

तख्त के पास ही कुटिया की दीवाल में माटी का दीया टिमटिमा रहा था। वर्षा की उस धीमी-धीमी सनसनाती पुरवइया से दीये की ज्योति रह-रहकर काँप उठती थी। उस काँपती दीप-ज्योति से न जाने कैसी प्रकाश की लहरें उठ उठकर महमूद मियाँ के उस गम्भीर चेहरे को और अधिक गम्भीर एवं कठिन बना देती थी।

राजेन्द्र चुपचाप उस चेहरे की ओर देख रहा था। बार-बार महमूद मियाँ के ओंठ कुछ कहने के लिए खुलना चाहते थे पर न जाने क्यों खुल नहीं पाते थे।

तब अचानक नदी की ओर देखते-देखते बोले—

"महाराज ! वह वहाँ देखो।"

"कहाँ, किधर ?"

"वह, जहाँ हिन्दुओं का मरघट है, वहीं।"

"कोई मुर्दा जल रहा है।"

"हाँ मुर्दा ही जल रहा है। पर सोचता हूँ वह आग फैल कर सारी दुनिया को जला कर खाक क्यों नहीं कर देती ? क्यों जल रही इस तरह अकेली चुपचाप ?"

कहकर वे चुप हो गये। दीये के धुंधले प्रकाश में लगा जैसे उनकी आँखों में भी कहीं अंगारे जल उठे हैं। लम्बी उसाँस छोड़ते बोले—

"अगर यही इन्सान है और यही उसकी इन्सानियत है तो इस दीन दुनिया का मालिक उसे मिटा क्यों नहीं डालता ?

महाराज ! मैं कैसे भी समझ नहीं पाता कि ऐसी जालिम बेरहम दुनिया को बनाने में उस परवरदिगार का क्या मकसद रहा होगा ? जहाँ सब एक दूसरे को नोच कर, खा-खाकर जिन्दा रहने की कोशिश कर रहे हैं।"

कहते-कहते उनका चेहरा ऐसा हो उठा कि देखे डर लगता था।

उस जलती चिता की ओर देखते-देखते बोले—

"महाराज ! जानता हूँ कि मैं इस दुनिया को बदल नहीं सकता पर यह हैवानियत भी तो नहीं देखी जाती।" कहते-कहते उनका गला भर आया।

राजेन्द्र विस्मय से बोला—

"हुआ क्या है ?"

वे रुंधे कंठ से बोले—"जिस डोम का वह बड़ा खेत उस बनिया डाक्टर ने बेईमानी से छीन लिया था सो उसी की फरियाद करने घर का कील कांटा बेचकर बेटा जबलपुर कचहरी में गया है और उसकी बुढ़िया माँ ने मारे दुःख के आज सबेरे सिर पटक पटकर जान दे दी।

महाराज ! बुढ़िया की लाश सवेरे से वैसी ही उसकी टूटी झोपड़ी में पड़ी थी। उसकी फटी आंखों में जड़ी पुतलियों को बीसियों चींटे नोचे जा रहे थे। डोमों की उस ऊजड़ बस्ती में बस यही एक झोपड़ी रह गई है। चील कौवे आ-आकर जहाँ-तहाँ चोंचें मार रहे थे और उसी के मजहब वाले हिन्दू खड़े दूर से तमाशा देख रहे थे। मुसलमानों के लिए तो वह काफिर थी। सो कोई उस लाश को उठाने नहीं आया। तभी तो सोचता हूँ वह अल्लाह-ताला इतनी बड़ी गैर इन्साफी और बेरहमी कैसे चुपचाप देख पाता है ?"

"फिर क्या हुआ ?"

जैसे तैसे मरघट पर लाकर उसे चिता पर लिटाया। उसके चेहरे पर बिखरी झुर्रियों को देखकर लगता था जैसे अब भी वह मन ही मन रो रही है। मुंह बन्द था। आँखें खुली थीं। मैं बगीचे से ही फूल ले गया था। मैंने उस पर फूल बिखेर कर जब उसका सिर एक लकड़ी के सहारे रखा तो मुंह खुल गया और महाराज ! मुझे लगा जैसा उसने धीरे से कहा हो—'बेटा !'

महाराज मेरी माँ बचपन ही में मर गयी थी। यह एक लब्ज 'बेटा' सुनने के लिए बचपन से तरसता आ रहा हूँ। सो सुनकर मेरा रोम-रोम कांप उठा।

उसकी आँखें खुली थीं। मुझे लग रहा था जैसे एक टक वह मेरी ओर देखे जा रही है। मैंने उसके पैरों पर माथा टेक कर मन ही मन कहा—

"अम्माँ ! तुम्हारा यह मुसलमान बेटा तुम्हारे धर्म के ये आखिरी रस्मोरिवाज नहीं जानता कहीं कुछ गलती हो जाये तो माफ करना माँ !"

कहते-कहते महमूद मियाँ का गला भर आया; फिर वे कैसे भी न बोल पाये।

बहुत देर तक दोनों उसी तख्त पर चुपचाप बैठे रहे। उस मनहूस सन्नाटे को तोड़कर राजेन्द्र बोला—

"भाई! लगता है आज तुम्हारा खाना-पीना कुछ भी नहीं हुआ है। मैं दौड़कर कस्बे से कुछ ले आता हूँ।" कहते-कहते वह उठ खड़ा हुआ।

महमूद मियाँ लम्बी उसाँस छोड़ते बोले—"नहीं महाराज! रहने दो। आज तो........।" कहते-कहते वे फिर बीच ही में चुप्पी लगा गये। कई बार कुछ कहने के लिए उनके होंठ हिले पर वे किसी भी प्रकार एक शब्द तक न बोल पाये।

६

उस रात जब महमूद मियां के यहां से राजेन्द्र लौटा तो चुपचाप आकर कमरे में लेट गया। गर्मी थी सो हाथ बढ़ा कर खिड़की खोल दी। आज उसके मन में रह रहकर एक ही बात अनेकों प्रकार से उठने लगी है—ऐसे नीच, अन्यायी और बेरहम आदमी के अन्न पानी पर वह क्यों पल रहा है ? इस पाप की कमाई से ही तो उसके रक्त की एक-एक बूंद बन रही है। सोचते-सोचते उसे लगा जैसे पागल हो जायेगा। बड़ी रात गये तक वह वैसा ही सोचता-विचारता पड़ा रहा। सहसा उसे लगा जैसे एक-एक सांस के लिए वह लड़ रहा है। उसे पूरी सांस तक नहीं आ रही थी। वह उठा और खिड़की के पास जा खड़ा हुआ। तभी उसने देखा कि रामी और झीनी कहीं बाहर से आकर अपनी झोंपड़ी में चली गई है। रामी के हाथ में थाली थी।

देखकर राजेन्द्र के सनाका हो गया। सोचने लगा—इतनी रात गये ये दोनों कहां गई थीं ? मेरी तरह क्या इस झोंपड़ी से दूसरों के यहां भी खाने की थालियां जाया करती हैं ? वहां भी होता होगा ऐसा ही हास-परिहास ? सोचते-सोचते न जाने कितनी देर तक रामी की उस झोंपड़ी को. शून्य दृष्टि से देखता रहा। फिर आकर बिछौने पर लेट गया। तभी कमरे की अँधियारी में एक काली छाया को अन्दर घुसते देखा। छाया ने लालटेन जलाई और भोजन की थाली मेज पर रख दी।

अब तक राजेन्द्र का मन रामी के प्रति क्रोध क्षोभ की अन्तिम सीमा तक टकरा-टकरा कर लौट आया था। फिर धीरे-धीरे उसके गरीबीजन्य, दुःख-दैन्य को याद कर-करके अन्दर ही अन्दर रामी के प्रति अनुग्रह भरी ममता की लहर बार-बार दौड़ने लगी।

वह धीरे से बोला—

"रामी, थाली ले जाओ। आज मुझे भूख नहीं है।"

कहते-कहते उसने लालटेन के उजीते में रामी के चेहरे को देखा। उसे लगा जैसे रामी वहां नहीं है।

वह धीरे से बोली—"बताते क्यों नहीं? क्या हुआ है? माथा दुख रहा है?"

"रामी, तुम्हें कैसे बताऊं कि माथा नहीं मेरा मन दुःखी है।"

सुनकर रामी कुछ सोचती रही। फिर अचानक उसका समस्त चेहरा खिल उठा। नीचे का होंठ दाबकर हंसती-हंसती बोली—

"याद आ रही है किसी की?"

कुछ देर चुप रहकर बोली—"डाक्टर बाबू, हमारी दीदी कैसी हैं? खूब पढ़ी लिखी होंगी? चटपट अंग्रेजी बोलती होंगी? कब लायेंगे यहां?"

राजेन्द्र बोला—"रामी, बहुत रात बीत गई है। गली से आते-जाते तुम्हारी आवाज़ यहां सुनकर न जाने कोई क्या समझेगा?"

"सो समझने दो। आप तो कुछ नहीं समझते डाक्टर बाबू!"

"रामी, तुम जाओ। तुम्हारी मां क्या कहेंगी?"

सुनकर उदास हंसी हंसती बोली—

"डाक्टर बाबू, जिनकी लड़कियां देहरी से बाहर निकलकर रुपये कमाने लगती हैं, उनकी मां इस मामले में चुप ही ज्यादा रहती हैं।"

सुनकर राजेन्द्र रामी की ओर कुछ देर तक देखता रहा पर बोला कुछ नहीं।

रामी बोली—

"क्या देख रहे हैं डाक्टर बाबू ? जवाब नहीं दिया मेरी बात का। कैसी हैं मेरी दीदी ? मुझ से बहुत सुन्दर होंगी ?"

सुनकर मारे लाज और क्षोभ के झुंझलाता-सा बोला—

"रामी, अब तुम घर जाओ। मेरी शादी नहीं हुई है।"

सुनकर खिलखिलाती हँस पड़ी। रामी का मन भी अच्छा नहीं था। आज किसी बात पर बहुत देर तक रोती रही थी। पर न जाने क्यों इस लजीले, शर्मीले मनुष्य को खिजाने में उसे एक प्रकार की आनन्दमयी आन्तरिक तुष्टि-सी मिलती है।

वह भुवनमोहिनी मुसकान होठों पर बिखेरती बोली—

"छोटे डाक्टर बाबू, मर्दों को क्या इतनी लाज सोहती है ? अच्छा डाक्टर बाबू, अगर मैं कहूं कि आज घर नहीं जाऊँगी। इसी कमरे में रहूँगी, तो क्या जबरदस्ती उठाकर बाहर फेंक दोगे ?" कहकर अचानक आई हँसी का वेग रोकती उसकी ओर देखने लगी।

वह सब देख-सुनकर मारे घृणा और क्रोध के उसका चेहरा लाल पड़ गया। पर वह किसी तरह उस वेग को दबा गया। टूटे स्वर में बोला—"रामी, आज तुम्हें हो क्या गया है ?"

राजेन्द्र की उस खीज को देख-देख कर रामी का मारे हँसी के बुरा हाल था। जैसे-तैसे आंचल के छोर को होठों पर रखकर हंसी दबाती चारपाई के पास बिलकुल उसके निकट धरती पर आ बैठी।

वह सब देखकर राजेन्द्र का रोम-रोम जल उठा। थोड़ी देर पहिले हाथ में थाली लिये कहीं से लौटकर रामी को झोंपड़ी में घुसते देखा था वही याद आते ही उसके भीतर ही भीतर अचानक सन्देह का अंधड़ उठा और आकाश तक छा गया।

सोचने लगा—तो क्या उस डाक्टर की बात ही सच है ? इनका कोई धर्म-कर्म नहीं है। बस इन्हें रुपया चाहिए और घर-घर जाकर खाने की थाली पहुँचा आयेंगी। भोजन से पेट भरेंगी और रसभरी

बातों से मन बहला देंगी। और भी जो चाहो सो...................... बस इन्हें रुपया चाहिये........रुपया।

तभी रामी कंठ में मिठास भर कर बोली—"अच्छा, डाक्टर बाबू, अब जाती हूं। खाना खा लीजिये। ठंडा हुआ जा रहा है।"

सुनकर राजेन्द्र को लगा जैसे किसी ने उसके कानों में खौलते तैल की बूंदें टपका दी हैं। उसका मन कर रहा था कि मारे दर्द के वह चीख पड़े पर न जाने क्या सोचकर वह ढीला पड़ गया। वह उठा और अपने बक्स के पास जा खड़ा हुआ।

पिछले महीने का वेतन दो-तीन दिन पहले मिला था। उन रुपयों में से वह यही बक्स और कुछ पहिनने के कपड़े खरीद कर लाया था। अभी साठ रुपये बक्स में पड़े थे। उन शेष रुपयों को रामी के सामने फेंककर बोला—

"रामी, मैं तुम्हारे जैसा ही गरीब आदमी हूं। मेरे पास कुछ भी नहीं है। मुझ से तुम्हें कुछ भी नहीं मिलेगा। बस्ती में बहुत से रईस बसते हैं। बस, ये रुपये लेकर चली जाओ। अब कभी यहां न आना।"

सुनकर रामी भौंचकी-सी राजेन्द्र की ओर मुंह बाये देखती रही। उसकी देह छोड़कर न जाने कहां चली गई। तभी उसने रामी के चेहरे की ओर देखा। उसका समस्त चेहरा सफेद पड़ गया था। बायें गाल में बार-बार भंवरियां-सी पड़ने लगीं। उसकी छोटी-सी पीली चिबुक बार-बार कांप जाती थी।

उसने धरती पर बिखरे रुपयों की ओर देखा तक नहीं। जैसे-तैसे रुलाई के आवेग को रोकती कमरे से बाहर चली गई।

रामी के जाने के बाद उसने बहुत चाहा कि सो जाये पर सो नहीं पाता। सोचता है—उसे रुपया ही चाहिये था तो उठाकर ले क्यों नहीं गई? लेकिन रात को उतने समय थाली लिये कहां से लौटी थी?

सहसा लगा जैसे कहीं से आकर छाती में तीर-सा चुभ गया है।

सोचने लगा—यह देह का लज्जाजनक भोग न होकर यौवन की निष्पाप प्यास भी तो हो सकती है। क्यों धिक्कारा मैंने?

उस दिन कह रही थी—'डाक्टर बाबू! हम ग़रीब हैं। छोटी जाति के हैं। न जाने लोग हमारे बारे में कैसी उल्टी सीधी बातें कहते-सुनते, हैं·······जो चुप रहकर सहता है क्या तुम्हारे सामने भी वही झूठा है?'

राजेन्द्र को लगा कि किसी ओर से आकर अचानक जो तीर उसकी छाती में चुभ गया है, सो किसी भी तरह निकाले नहीं निकलता। उसे किसी भी तरह बाहर नहीं खींच पाता। वह धीरे से उठा और खिड़की के सामने जा खड़ा हुआ। फिर दुःख-दैन्य के पारावार में डूबती उछरती रामी की उस झोंपड़ी की ओर निहारता न जाने कैसी-कैसी बातें सोचता-विचारता बहुत देर तक वहीं चुपचाप खड़ा रहा।

Library Sri Pratap College
Srinagar

विडम्बना

हाय रे मनुष्य ! और तेरे जीवन की यह विडम्बना !! जिसको लेकर कितनी बार तू रंगीन आकाश-कुसुम खिलाता है, जिनकी मदिर भीनी गंध से तेरा रोम-रोम सिहर उठता है, फिर ऐसे भी क्षण आते हैं कि वही गंध तेरे अंग-अंग में विष ज्वाला बन फूट पड़ती है।

७

हाय रे मन! और तेरी प्रवंचना!! पिछली रात जिसका कंठ-स्वर सुनकर उसे लगा था कि किसी ने खौलते तप्त तैल की बूंदें उसके कानों में टपका दी हैं और आज सुबह उठते ही कान उसी की आवाज सुनने के लिए व्याकुल हो उठे किन्तु उस दिन रोज की तरह रामी उसके कमरे में झाड़ू-बुहारी देने नहीं आई।

डिस्पैन्सरी में जब राजेन्द्र पहुँचा तो उसका चेहरा उतरा हुआ था। कम्पाउन्डर के उस छोटे कमरे में से बार-बार वह कनखियों से देख लेता है पर रामी कहीं भी दिखलाई नहीं पड़ती। आशंका से उसका मन भर उठा। सोचने लगा—कहाँ गई? क्या हुआ है उसे? डिस्पैन्सरी में क्यों नहीं आई?

दोपहर को दो घंटे की छुट्टी होती है। राजेन्द्र बीच की छुट्टी में भूखा-प्यासा ही आकर कमरे में लेट गया।

पिछली रात उसके सामने रुपये फेंककर राजेन्द्र नें स्पष्ट वहाँ न आने के लिए कह दिया था, पर फिर भी उसे विश्वास नहीं हो रहा था कि वह दोपहर का खाना लेकर नहीं आयेगी। सोचने लगा—मेरा क्रोध शान्त हो गया फिर वह अभी तक क्यों रूठी बैठी है?

छुट्टी को जब एक घंटा बीत गया और खाने की थाली नहीं आई तो मन ही मन वह फिर खिन्न हो उठा। विचार आया—सब झूठ है।

जाल है। आज वह खाने-खिलाने की ममता कहाँ जाकर अलोप होगई?

पिछली रात मैंने ही तो साफ कह दिया था कि मैं तुम्हारी तरह ही ग़रीब आदमी हूँ तो अब समझ में आया होगा कि इन तिलों में तेल नहीं है। फिर क्यों कोई आये?

तभी उसे न जाने कब का याद किया हुआ किसी श्लोक का पद याद आया—

"स्त्रियश्चरित्रं पुरुषस्यभाग्यं—
दैवो न जानाति कुतः मनुष्यः।"

याद आते ही न जाने कैसे आत्माभिमान के भाव से उसकी गर्दन कुछ तिरछी होकर दूसरी ओर घूम गई। उसी समय बाहर से आवाज आई—

"डाक्टर बाबू!"

"कौन?"

"झीनी हूँ। खाना लाई हूँ।"

सुनते ही स्त्रियों के लिए मन में उपजा वह विराग क्षण भर में न जाने कहाँ तिरोहित हो गया। कंठ में मिठास भरकर बोला—"अन्दर आ जाओ।"

झीनी सिर झुकाये, सकुचाती सिमटती-सी कमरे में आई। भोजन की थाली मेज पर रखकर बिना कुछ कहे जाने लगी तो वह बोला—

"तुम्हारी दिदिया आज डिस्पैन्सरी क्यों नहीं आई?"

"तबियत ठीक नहीं है जी!" कहती-कहती झपाटे से भाग गई।

तभी उसके कानों ने सुना जैसे कमरे से बाहर कोई आपस में कानाफूसी कर रहा है। उसके कानों ने सुना—

"दिदिया! तुम्हारी तबियत खराब है फिर क्यों आई यहाँ?"

"तुझे सऊर है रत्ती भर का। बिना आये चलता?"

"क्यों?"

"जलमुँही! गिलास में पानी भर के आई है?"

"नहीं"

"कह दिया—'नहीं'। जा रखकर आ।"

"अपने आप ले लेंगे।"

"जाती है कि नहीं ?"

"नहीं दिदिया ! अब मैं नहीं जाऊँगी।"

"जा !"

"नहीं।"

"हे राम !"

फिर बाहर सब कुछ शान्त हो गया। मेज पर रखी उस थाली की ओर निहारता मन ही मन सोचने लगा—

क्या है यह रामी ? कुछ भी तो नहीं समझ पाता। धीरे-धीरे सोचता-विचारता न जाने कैसी पश्चाताप की आग में जलने लगा। अचानक मुंह से निकल गया—

"क्यों मैंने उसे धिक्कारा था ?"

कुछ देर तक कानों में अपना ही प्रश्न अर्थहीन प्रलाप की भाँति गूंजता रहा फिर जैसे उसके अन्दर से ही किसी ने जवाब दिया—"उसे रुपया नहीं चाहिये और न देह का लज्जाजनक भोग। वह भरे बादल की भाँति तुझ पर बरस पड़ना चाहती है।"

उसे लगा जैसे सहसा कोई अन्दर ही अन्दर उसे भिजो गया है।

पिछली रात वाला रामी का दयनीय चेहरा याद हो आया। उसके बाँये गाल पर बार-बार भवरियाँ बन जाती थीं। फिर अचानक आई रुलाई को दबाती कैसे चुपचाप चली गई थी।

रामी को लेकर जाने कैसी-कैसी मधुर कल्पनाओं के हिंडोले पर बैठा मीठे-मीठे सपने लेने लगा। सहसा उसे रोमांच हो आया। शरीर की सारी नसें एक बारगी झनझना गईं।

उसके अन्तर्यामी ने निश्चय किया—

इस मास का वेतन वह भइया के पास नहीं भेजेगा। रामी और

झीनी के लिए साड़ी लेगा, ब्लाउज लेगा। उसने गांव के लिए लिखा मनीग्रॉडर-फार्म फाड़ डाला।

बिछौने पर लेटा-लेटा सोचने लगा—

खुद कमरे में नहीं ग्राई। झीनी को भेज दिया। रूठ गई है, पगली कहीं की। जैसे रोते-रोते हँस पड़ती है वैसे ही रूठ कर मनते क्या देर लगेगी? ग्राज शाम को उसके घर जाकर ही मनाऊँगा—पगली कहीं की।

तभी नीचे से किसी नारी कण्ठ के चीखने की ग्रावाज ग्राई।

राजेन्द्र हड़बड़ाता-सा नीचे ग्राया। डिस्पेन्सरी की सारी खिड़कियां वन्द थीं। रामी द्वार से साड़ी सँभालती निकल रही थी। निकलते-निकलते उसने राजेन्द्र की ग्रोर देखा। देखते ही उसके चेहरे का रंग फेद पड़ गया। वह भयभीत मृगी की भाँति डिस्पेन्सरी का फाटक खोलकर गली में चली गई।

जिस कमरे से रामी ग्रभी-ग्रभी निकली थी उसी में वह चला गया। डाक्टर साहब एक हथेली पर ठोड़ी टिकाये बैठे थे।

राजेन्द्र को देखते ही बोले—

'ग्राग्रो! ग्राग्रो भाई!! कब से यहां खड़े थे?" कहते-कहते शंका भरी दृष्टि से उसके चेहरे को देखते-देखते बोले—

"कब से यहां खड़े थे?"

"ग्रभी ग्राया था।"

"ग्रच्छा! ग्रच्छा!!" कहकर माथे का पसीना पोंछते ग्रपनी उसी पूर्व मुद्रा में झुक गये।

राजेन्द्र हांफता-हांफता ग्रपने कमरे में ग्राया। सोचने लगा—ग्रब तो सब साफ है। ग्राज तो एक तरह से ग्रपनी ग्रांखों से ही सब कुछ देख लिया है।

थोड़ी ही देर पहिले रामी के प्रति जिस माधुर्य भाव से उसका

रोम-रोम सराबोर हो उठा था सो लगा जैसे मरुस्थल में गिरी ओस की बूंद की तरह न जाने कब कहां अलोप हो गया।

× × ×

जिस बात को लेकर उसका मन टुकड़े-टुकड़े हो रहा था, सो उसे भुला कर डिस्पेन्सरी में रात के आठ बजे तक काम करता रहा; किन्तु जैसे ही उस नौकरी के कर्त्तव्य भुगता कर अपने कमरे में आया तो लगा जैसे चारों ओर से अँधियारा-सा सिमटता आ रहा है।

पिछले थोड़े से समय में ही राजेन्द्र के जीवन में कैसी-कैसी अनोखी घटनायें घट गई हैं। प्रेम-घृणा, तृष्णा-वितृष्णा के कैसे-कैसे अंधड़ उठे और मिट गये।

आज राजेन्द्र को लग रहा था जैसे सब ठौर, सब दिशाओं में शून्यता ही भर उठी है। आज उसने अच्छी तरह समझ लिया है कि रामी भ्रष्ट है! फिर भी उससे यह लगाव क्यों है? क्यों नहीं उसे भुला पाता?

हाय रे मनुष्य! और तेरे जीवन की विडम्बना!

जिसको लेकर कितनी बार तू रंगीन आकाश—कुसुम खिलाता है, जिसकी मदिर भीनी गंध से तेरा रोम-रोम सिहर उठता है फिर ऐसे भी क्षण आते हैं कि वही गंध तेरे अंग-अंग में विष-ज्वाला बन फूट पड़ती है।

राजेन्द्र लेटा-लेटा सोचने लगा—जिस पर अपना वश नहीं उसक पीछे दौड़ना क्या आत्मघात ही नहीं है? क्यों उठता है रह-रहकर उसके निकट जा पहुंचने का यह उन्माद?

राजेन्द्र! सोचो, सोचते रहो। संसार के सभी पुरुष असहाय रूपवती नारी को लेकर इसी तरह सोचा करते हैं। न उस पर विश्वास कर पाते हैं, न उससे दूर ही हो पाते हैं।

उसी समय झीनी का कण्ठ-स्वर सुनाई पड़ा—

"डाक्टर बाबू !"

"........................।"

"खाना लाई हूं।"

"नहीं चाहिये।"

थोड़ी देर तक सन्नाटा रहा फिर राजेन्द्र के कानों ने जाना कि कोई धीरे-धीरे सीढ़ियों से उतर कर चला गया है।

झीनी के चले जाने के बाद न जाने कैसी ज्वाला-सी रह-रहकर उसके भीतर ही भीतर जल उठती है।

सोचने लगा—कैसी है मेरे जीवन की यह विडम्बना ! ऋषि तुल्य भाई का मैं सहोदर हूं, क्यों इस दम्भी लम्पट डाक्टर के टुकड़ों पर पड़ा-पड़ा पल रहा हूं। क्यों इस भ्रष्ट रामी के फेर में आ पड़ा हूं। क्यों आ फंसा हूं इस जाल में ?

सहसा उसे महमूद मियाँ का ध्यान आया। सोचने लगा—उस दिन जब पहिली रात को उसने खाना नहीं खाया था तो सुबह ही रामी ने आकर कहा था—'वह तो कहते थे कि आप छुआ-छूत नहीं मानते........।' मैंने पूछा था—'रामी ! तुम तक यह खबर कैसे पहुंची ?' तो लाज के मारे उसका मुंह लाल हो उठा था। ठीक है ! तो उस रात ये दोनों उसी के यहां से खाली थाली लिये लौटी थीं ?

उसे लगा जैसे निमिष मात्र में सारा रहस्य उसकी आंखों के सामने स्पष्ट हो उठा है।

एक दबी उसांस छोड़ता सोचने लगा—तो इस सारे षड़यंत्र में महमूद मियां भी शामिल हैं। क्या इसीलिए उसने मुझे यहां नौकरी दिलवाई थी ? सोचा होगा कि मैं दिन रात परिश्रम करके यहां रुपये कमाऊं और वह उस बगीचे में निठल्ला रहकर रामी से रुपये मंगवा-मंगवा कर मेरी कमाई पर गुलछर्रे उड़ाये।

वह आंखें भींचे न जाने कैसी-कैसी बातें सोचता लेटा था। तभी

उसकी पलकों को लगा जैसे अचानक कमरे में प्रकाश हो उठा है। उसने अचरज से आँखें खोलीं।

रामी हाथ में लालटेन लिए कमरे में खड़ी थी।

राजेन्द्र ने उस ओर से मुँह फेर लिया। रामी काँपते कण्ठ से बोली—"डाक्टर बाबू ! गलती मुझसे हुई है। लेकिन मेरी झीनी ने आपका क्या बिगाड़ा था ? क्या कहा था आपने उससे ? रोते-रोते साँस नहीं आ रही बिचारी को।"

सुनकर राजेन्द्र फूट पड़ा—

"उसे साँस आये या न आये। वह तुम्हारे लिये बड़ी बात नहीं है पर अब कौनसा नया जाल बुनकर लाई हो, सो तो जरा सुन लूं।"

सुनकर रामी का सारा शरीर काँप गया। क्रोध में काँपती बोली—"डाक्टर बाबू ! आँखें खोलकर चलने वाले अंधे मैंने कभी नहीं देखे थे आज देखे जा रही हूँ। अब मुझे कुछ नहीं कहना है। जाती हूँ।"

रामी की उस निःशङ्क त्रिशूल जैसी चुभने वाली बात सुनकर राजेन्द्र बिछौने से उछल पड़ा। दाँत पीसता बोला—

"जिसे तुम अंधा कह कर चली जा रही हो वह यदि सचमुच ही अंधा होता तो तुम सबको इतनी जल्दी नहीं पहिचान पाता। तुम और वह दाढ़ी वाला बकरा सब एक थैली के चट्टे-बट्टे हो। जब जाल में नहीं फँसा पाये तो कह दिया—'अंधा !"

"डाक्टर बाबू ! मेरी बात जाने दीजिये लेकिन जिसे बकरा कहकर आप याद कर रहे हैं उसके चरणों की धूल के बराबर भी आप नहीं हैं, सो अच्छी तरह से जान लीजिये।"

सुनकर राजेन्द्र चीख पड़ा—

"राऽमीऽऽ !"

"चीखने से ही कोई बात सच नहीं हो जाती। अच्छा, मैं जाती हूं। आप ब्राह्मण हैं—गुस्से में कुछ कहनी अनकहनी बात मुंह से निकल गई हो तो माफ कर देना डाक्टर बाबू।" कहते-कहते उसने झुककर धरती पर माथा टेका और उठकर चुपचाप चली गई।

राजेन्द्र अवाक् पत्थर की मूर्ति की भांति कुछ देर जहां का तहां बैठा रहा फिर बिछौने पर निर्जीव-सा लुढ़क गया।

Library Sri Pratap College Srinagar

८

रामी जब घर पहुँची तो देखा झीनी आँगन में चुपचाप लेटी है। रामी उसकी खटिया के पास जा खड़ी हुई।

कुछ देर चुपचाप खड़ी रही। तभी झीनी धीरे-से बोली—"दिदिया! उनसे लड़ने झगड़ने काहे को गई थी? उस दिन कह रही थी—देवता हैं, पैर छुओ, और अब उन्हीं से झगड़ा कर आई।"

सुनकर रामी ने लालटेन की बाती नीची करके एक ओर रख दी और झीनी के पास आ लेटी। थोड़ी देर दोनों चुपचाप लेटे रहे।

सहसा रामी ने झीनी को खींचकर छाती से चिपटा लिया। न जाने क्यों उसकी पसलियों को कम्पाती रुलाई की लहर बार-बार आकर उसके कंठ को छू जाती है। किसी तरह उस वेग को दबाकर बोली—

"मुँहजली! तेरी कोई भी बात मेरी समझ में नहीं आती। तब कैसे सुबक-सुबककर रो रही थी और अब उल्टी मुझे ही खरी-खोटी सुना रही है। तब इतनी ज़ोर से क्यों रोई थी?"

"..................।"

"बोल!"

"..................।"

"झीनी! मैं न रही तो तेरा क्या होगा? सोचते-सोचते मेरे तो प्राण कांप जाते हैं।"

सुनते ही झीनी अपनी दिदिया के गले में बाँहें डालकर चिपट गई। जैसे कहीं बाज के पंखों की आवाज सुनकर चेंचले अपनी चिड़ी माँ के पंखों में जा दुबकते हैं।

झीनी की पीठ पर हाथ फेरती रामी बोली—"झीनी! डाक्टर बाबू ने तुझ से क्या कहा था?"

"कुछ भी तो नहीं।"

"तो तू इतनी जोर से हिचक-हिचककर रोई क्यों थी?"

"…………….।"

"बोल।"

"मैं नहीं बताती।"

"कैसे नहीं बतायेगी—बता! बता!!"

"अच्छा दिदिया! क्या सचमुच डाक्टर बाबू से तुम्हारी लड़ाई हो गई है? मुझे खाना देकर क्यों भेजा था? तुम क्यों नहीं गई?"

"बातें मत बना। तू बता रोई क्यों थी?"

"मैं क्या उनके लिए रोई थी? भूखे रहें, हमें क्या? हमारी दिदिया से झगड़कर क्या किसी को रोटी मिलती है? पिछली साल बापू ने झगड़ा किया था। तब से देखा है कैसे सूखकर काँटा रह गये हैं। दिदिया! उस दिन रात को बापू से तुम क्यों झगड़ी थीं? अब गये कहाँ? दिदिया! अम्मा से मत कहना। बापू मुझे बहुत बुरे लगते हैं। फूटी आँखों नहीं सुहाते। बता न क्यों झगड़ी थी बापू से?"

"झी ऽ नी ऽ ऽ!" कहकर रामी चारपाई से उठकर खड़ी होगई। फिर गुस्से में बोली—

"तुझसे कितनी बार कहा कि ज्यादा बातें मत किया कर, पर समझ ही में नहीं आता। कुछ न कुछ बके ही जाती है। रोटी खा ली या नहीं?"

झीनी रूठती-सी बोली—

"मैं नहीं खाती। सबसे तो लड़ती झगड़ती फिरती हो।"

यह कहा सुनी सुनकर थोड़ी दूर पर लेटी अम्मा की आंख खुल गई। बोली—"अरी! क्यों सदा लड़ती झगड़ती रहती हो तुम दोनों। खाना पीना होगया हो तो अब सो जाओ।"

झीनी बोली—"अम्मा, यह दिदिया........।"

तभी रामी ने झीनी का मुंह दाबकर धीरे-से कहा—'चुप जलमुंही' और पास ही लेट गई।

थोड़ी देर दोनों चुपचाप लेटी रहीं। तभी अम्मा के कंठ से उठती घर्र-घर्र की आवाज़ ने खबर दी कि वे सो गई हैं।

रामी ने धीरे-से कहा—

"झीनी, तुझे मेरी सौगन्ध है। सच-सच बताना कि डाक्टर बाबू ने नहीं खाया इसीलिए तू आज भूखी लेटी है।"

"बड़ी वैसी हो तुम दिदिया। ज़रा-सी बात पर सौगन्ध खिलाने बैठ जाती हो।"

"बातें मत घना। बात का जवाब दे।"

थोड़ी देर दोनों चुपचाप लेटी रहीं। तब रामी ने भर्राये स्वर में कहा—"झीनी! डाक्टर बाबू पिछले महीने ही इस गांव में आये हैं, सो तेरे अपने हो गये और मैं सारे दिन दौड़ती भागती हूं और अब आकर भूखी-प्यासी लेट गई सो एक बार मेरा मन रखने के लिए भी खाने को तूने नहीं पूछा। क्यों?"

"................।"

"झीनी! सो गई?"

झीनी अपनी दिदिया के गले में बांह डालकर रुंधे गले से बोली—"दिदिया! आज लगता है तुम बहुत दुःखी हो, नहीं तो आज तक तुमने अपने सुख-दुःख की बात कभी दूसरों से कही है? किसी से लड़ झगड़कर आज तक रोटी का एक कौर भी कभी तुम्हारे मुंह में गया है? सो मैं तुमसे खाने के लिए कैसे पूछती?" कुछ देर चुप रहकर बोली—

"दिदिया, तुम सबसे क्यों लड़ती झगड़ती फिरती हो? आज दोपहर को बड़े डाक्टर बाबू से भी तो तुम लड़........।"

"झीनी! चुपचाप सो जा।"

इसके बाद थोड़ी देर सन्नाटा रहा फिर न जाने क्यों रामी आँचल से मुंह दबाये निःशब्द फूल-फूल कर रोने लगी। उसका सारा शरीर बार-बार काँप उठता था।

झीनी ने जीवन में पहली बार अपनी दिदिया को अपने ही सामने इस तरह सुबकते देखा था। वह बेचारी समझ ही नहीं पाती थी कि क्या करे क्या न करे।

आंसू पोंछती रामी बोली—"देख झीनी, आज मैं तुझ से साफ-साफ कहे देती हूँ कि पढ़-लिखकर कुछ काम-काज करने लग जा। अब मैं बहुत थक गई हूँ। जिधर मुंह उठा उसी ओर किसी दिन चल दूंगी। कितने दिनों से चारों धाम करके काशीवास करना चाहती हूँ पर तेरे मारे कुछ भी नहीं कर पाती।"

"दिदिया, आज क्या तू सचमुच ही मुझ पर नाराज़ है?"

जब झीनी को अपनी दिदिया पर बहुत जोर से प्यार उमड़ता है तो सदा 'तुम' के स्थान पर 'तू' कहकर ही पुकार उठती है। अतिशय प्यार के इस संकेत को दिदिया अच्छी तरह पहचानती है। सुनकर रामी ने एक दबी उसांस छोड़ते झीनी को छाती से चिपटा लिया फिर बोली—"झीनी, अभी तू बिलकुल बच्ची है, क्या-क्या समझाऊँ तुझे?"

रामी को एक ओर ढकेलती झीनी बोली—"अच्छा जी! मैं सोलह साल पार करके सत्रहवें में जा पहुँची सो बच्ची हूँ और तुम अभी तक बाईस भी पार नहीं कर पाई सो बड़ी बूढ़ी होगई। क्यों दिदिया?"

"अच्छा! अच्छा!! अब चुप रह।"

"दिदिया, तुम मुझे छोटी मत समझना, मैं सब बातें समझती हूँ।"

"क्या समझती है तू, ज़रा मैं भी तो सुनूं।"

"अच्छा दिदिया, एक बात पूछूं? सच-सच बताना। तीन-चार दिनों

से मैं पूछना चाहती थी पर पूछ ही नहीं पाती थी।"

"ज्यादा बातें न बना। बोल क्या पूछती है?"

"दिदिया, तुम अपना ब्याह क्यों·······?"

"लगता है अब तेरा स्कूल भेजना बन्द करना पड़ेगा। कैसी-कैसी उल्टी सीधी बातें वहाँ जाकर सीखने लगी है।"

"दिदिया! तेरी यही बात तो मुझे अच्छी नहीं लगती। शादी ब्याह तो सभी करते हैं। तू क्या कहीं से अनोखी आई है?"

"अब बहुत हुआ। चुपचाप सो जा।"

"नहीं दिदिया! आज मुझे नींद नहीं आ रही है।"

"क्यों री! तुझे नींद नहीं आ रही है तो क्या तेरे साथ बैठी-बैठी मैं भी सारी रात बक झक ही किये जाऊँगी?"

"अच्छा, एक बात बता दे फिर सो जाना।"

"क्या है?"

"क्या डाक्टर बाबू अब अपने यहाँ का खाना नहीं खायेंगे?" पूछ कर कुछ देर झीनी चुपचाप लेटी रही फिर रुकती-रुकती बोली—"उनके·······वहाँ·······घर पर·······कौन-कौन है?"

सुनकर रामी उठ बैठी। कुछ देर उस चाँदनी में झीनी के मुंह की ओर दुष्ट हँसी हँसती देखती रही फिर कृत्रिमक्रोध से उसकी ठोड़ी हिलाती बोली—"लगता है सचमुच ही अब तेरी अक्कल दाढ़ निकल आई है!"

सुनकर झीनी शरमा गई। अपनी दोनों बाहें दिदिया की कमर में उलझा कर उसकी गोद में मुंह छिपा लिया।

फिर कितनी रात गये तक उन बहिनों की रस भरी बातें होती रहीं, सो उसका कुछ हिसाब नहीं। लेकिन उस रात रामी भली भाँति समझ गई कि उसकी झीनी अब उतनी छोटी नहीं रही है जितनी वह माने बैठी थी।

———

९

दूसरे दिन जब राजेन्द्र सवेरे डिसपेन्सरी में आया तो देखा कि डाक्टर बाबू आ चुके हैं और उनका पारा अन्तिम पॉइन्ट तक जा पहुँचा है। वे सामने ही कुर्सी पर बैठे थे। रामी द्वार के पास सिर झुकाये खड़ी थी।

वे चीख रहे थे—"कुछ काम नहीं, हराम का खाना चाहते हैं। जब चाहो विना छुट्टी मांगे घर बैठ जाओ। सारी शीशियों पर धूल जम गई है। कितनी वार कहा पर कौन सुनता है ?............।"

राजेन्द्र चुपचाप अपने कमरे में जा बैठा। वह समझ ही नहीं पाया कि कल दोपहर को इन मालिक और नौकरानी का जो प्रच्छन्न प्रेम-मिलन हुआ सो उसका फल तो मधु से भी मीठा होना चाहिये था। ये कुनीन के घूंट क्यों पिलाये जा रहे हैं ?

कुछ देर यही सोचता-विचारता वह रोगियों के पर्चों को देख-देख कर दवा बनाता रहा। सहसा अपनी प्रखर बुद्धि के सहारे उस कठिन ग्रन्थि को भी सुलझा लिया।

सहसा प्राप्त हुये उस हल को मन ही मन दुहराने लगा—तो यह सब दूसरों को बहकाने के लिए नाटक हो रहा है, नाटक ! कल जो मैंने अपनी आंखों से देख लिया है उसी पर पर्दा डालने की कोशिश की जा रही है। ठीक—ठीक—बहुत ठीक !

फिर अभिमान से सिर हिलाता अन्दर ही अन्दर बड़बड़ाया—"लेकिन भाई ! मैंने भी कच्ची गोलियाँ नहीं खेली हैं। उड़ती चिड़िया पहिचान लेता हूँ !"

दिन के ग्यारह बजे होंगे। दोपहर की छुट्टी में एक घंटा शेष था। सभी रोगी अब तक जा चुके थे। राजेन्द्र बैठा नुस्खों की पर्चियाँ नत्थी कर रहा था और रामी हाथ में कपड़ा लिये डाक्टर बाबू के कमरे में एक-एक शीशी पोंछ कर करीने से सम्भाल-सम्भाल कर रख रहीं थी।

डाक्टर बाबू सामने रक्खी किताब पढ़ते-पढ़ते कनखियों से बार-बार न जाने क्यों रामी को देख लेते हैं।

तभी डाक्टर बाबू भारी भर्राये स्वर में बोले—'रामी ! एक गिलास पानी तो लाना।"

उसके थोड़ी देर बाद ही राजेन्द्र के कानों ने 'तड़ाक्' की आवाज सुनी। जैसे किसी ने किसी के मुंह पर कस कर तमाचा जड़ दिया हो।

राजेन्द्र हड़बड़ाता कुर्सी से उठा और कम्पाउन्डर के कमरे से बाहर आया। तभी उसने देखा ठीक पिछले दिन की भाँति घबराई-सी रामी कमरे से निकलकर सदर फाटक को खोलती गली में चली गई।

राजेन्द्र ने लुकते-छिपते सावधानी से कमरे में झांका। डाक्टर बायें हाथ से अपनी बाँई कनपटी धीरे-धीरे सहला रहा था। पास ही नीचे धरती पर कांच का टूटा गिलास पड़ा था। पानी बिखर गया था।

वह सब देखकर उसे लगा जैसे उसके अन्तराल की निबिड़ अँधियारी में अचानक कहीं बिजली कौंध गई है। वह चुपचाप अपनी कुर्सी पर आ बैठा।

दोपहर की छुट्टी होने पर राजेन्द्र अपने कमरे में नहीं गया। सीधा रामी के आंगन में जा खड़ा हुआ।

आंगन में पीपल के पास दो बकरियाँ बँधी थीं। उनके पास ही बकरियों के बच्चे उछल-कूद कर रहे थे।

उस अजनबी को वहाँ उस तरह खड़े देखकर बच्चे मिमियाने लगे। तभी रामी आँचल के छोर से आँसू पोंछती बाहर के दालान में आ खड़ी हुई। रोते-रोते उसकी आँखें सूज गई थीं।

सहसा रामी ने जिसे अपने आँगन में खड़ा देखा, उसे देखकर लगा जैसे कोई सपना देख रही हो। उसका मन साथ ही साथ हँसने-रोने को होने लगा। फिर थोड़ी ही देर में उसने अपने को सम्भाल लिया।

दौड़कर दालान में बिछी खाट पर दरी बिछा दी। रुँधे स्वर में पास आकर बोली—"यहाँ क्यों खड़े हैं ? वहाँ चल के बैठ जाइये।"

सकुचाता-सा बोला—"रामी, मैं बैठने नहीं आया हूँ। खड़े ही खड़े एक बात कहनी थी।"

"डाक्टर बाबू ! बिना बात के क्यों इतना बड़ा दण्ड दिये जा रहे हैं ? क्या थोड़ी देर बैठ नहीं सकते ?"

"रामी ! तुम दण्ड की बात कर रही हो, और मैं तुमसे सचमुच ही माफी माँगने आया हूँ।" कहता-कहता वह बिछौने पर बैठ गया।

रामी ने उठकर राजेन्द्र के पैरों के पास धरती पर माथा टेक दिया फिर एक ओर हटकर बोली—

"छोटे डाक्टर बाबू ! आप ब्राह्मण हैं, बड़े हैं, ऐसी बातें क्यों करते हैं ? मुझे नरक में भी ठौर मिलेगा ?"

"नरक की इसमें क्या बात है ? सुनो, आज लगता है तुम्हारी ही बात सच है। रामी ! सचमुच ही मैं अन्धा हूँ।"

"डाक्टर बाबू ! आज दया करके इस गरीब की झोंपड़ी में पधारे हैं। मेरे महमान हैं। आपकी बड़ी कृपा होगी, ऐसी बातें मत करिये।"

"रामी ! और सब कहाँ गये ?"

"अम्मा पड़ोस में गई हैं। झीनी स्कूल गई है, आधी छुट्टी में आने ही वाली है। और.......।"

"ग्रोर तुम्हारे बापू ?"

"वे ग्रब घर नहीं ग्राते।"

"क्यों ?"

"...................।"

रामी ने उत्तर नहीं दिया। एक लम्बी उसाँस छोड़कर वहाँ से उठ गई। जब लौटी तो एक हाथ में पीतल की परात ग्रौर दूसरे में कलई का पानी भरा लोटा ले ग्राई।

रामी नें ग्राकर तसला धरती पर रख दिया ग्रौर राजेन्द्र के पैरों की ग्रोर हाथ बढ़ाये।

वह लजाता-सा बोला—

"यह क्या कर रही हो तुम ?"

"जितना मेरे भाग का है उसे तो ले लेने दो ?" कहते-कहते वह उसके पैर धोने लगी।

राजेन्द्र ने तभी ग्रपने बड़े बेडौल पैरों को उन कमल की पंखड़ियों के बीच घुलते देखा।

उसे लगा जैसे पैरों के ग्रंगूठे से ग्रा-ग्राकर कनपटी तक कुछ बार-बार झनझना उठता है। उसे रह-रहकर यही लग रहा था जैसे उस नारी-हृदय में जो कुछ है, सो सब उसके पैरों पर उड़ेले दे रही है।

तभी ग्राँचल के छोर से पैरों को पोंछते-पोंछते बोली—

"ग्रब तो सचमुच ही ग्राप से ठिठोली करते डर लगता है। ग्रापके सोचने समझने का भी कुछ ठिकाना है ? या सचमुच ही मैं देखी नहीं सुहाती, क्यों डाक्टर बाबू ?"

तभी झीनी हाथ में कापी किताबें दबाये ग्रा खड़ी हुई। उसने ग्रपनी दिदिया की ग्राखिरी बात सुन ली थी। उसे वहाँ खड़ा देख रामी का समस्त मुंह लाज के मारे ईंगुरी हो उठा।

झीनी सकुचाती सिमटती एक ग्रोर जाकर छिप गई। तब तक रामी सम्भल गई थी। बोली—"कल से जिनके लिए भूखी मरती फिर

रही है सो दया करके घर पधारे हैं तो अब छिपती घूम रही है। जलमुंही इधर आ पैर छू। यही सीखा है तूने स्कूल में ? आती है कि मैं आऊँ ?"

सुनकर झीनी को पिछले दिन की खींचातानी याद हो आई। वह गर्दन झुकाये ठिठकती सकुचाती सामने आई। राजेन्द्र की पगधूलि माथे पर लगा दालान से बाहर भाग गई।

उसी समय राजेन्द्र ने रुकते-रुकते पूछा—"झीनी किसके लिए भूखी रही थी ?"

"क्या करेंगे जान कर ? मैं तो सोच रही थी कि आज होगा क्या ? सो भगवान् ने पुकार सुन ली।" कुछ देर चुप रहकर बोली—

"अरी झीनी ! चौका लगा, पानी रख। डाक्टर बाबू आज यही भोजन करेंगे।"

तभी दूसरी ओर से आवाज आई—

"दिदिया।"

"इधर आ न ! वहाँ खड़ी-खड़ी क्या कर रही है ?"

"नहीं, तुम्हीं आकर सुन जाओ।"

रामी कृत्रिम क्रोध दिखाती उठी और "इस निगोड़ी लजवन्ती के मारे तो मेरा जीना दूभर हो गया है।" कहती-कहती बाहर चली गई।

जब लौटी तो नीचे का होंठ दबा कर हंसी के वेग को बार-बार रोकती आ बैठी।

राजेन्द्र ने उत्सुक होकर पूछा—

"क्या हुआ ? क्या कह रही है ?"

"कहती है कि—।"

"दिदिया ! तुमने बताया तो—हाँ तो—हाँ"

"कहती है सवेरे ही मंदिर में जाकर पूजा की थी तभी तो डाक्टर बाबू आज……।"

बीच ही में हवा के झोंके की तरह दिदिया की वह लाड़ली बहिन आई और अपनी दिदिया का मुंह दोनों हथेलियों से दाब लिया।

× × ×

सब खा पी चुके तो झीनी अपने स्कूल चली गई। राजेन्द्र भी डिस्पैन्सरी के लिए तैयार होकर बोला—

"रामी! अब तुम तो डिस्पैन्सरी क्या जाओगी?"

"क्यों?"

"अब भी।"

सुनकर रामी की आँखें डबडबा आईं। धीरे से बोली—

"डाक्टर बाबू आज की बात मिला कर यह तीसरी बार है।"

"तो तुम वहाँ नौकरी क्यों करती हो?"

"कहाँ जाऊँ? सब ठौर यही तो हैं। जहाँ नहीं था सो अब रहे नहीं।"

"कौन? किसकी बात कर रही हो?"

"सो फिर कभी बताऊँगी। अब तो सोचती हूँ। इस साल झीनी एन्टरेन्स कर ले तो इसे कहीं मास्टरनी बनवा दूं। बस तब कहीं चैन मिले।"

१०

कार्तिक का महीना है। वर्षा बीत गई है और जाड़ा पड़ना शुरू हो गया है। इन पिछले महीनों में कुछ विशेष बातें घट गई हैं।

एक तो यह कि जब महमूद मियाँ को अपने प्रति राजेन्द्र के मन में उठी शंकाओं का पता चला, तो कई दिनों तक उस लज्जाजनक क्षोभ से व्याकुल चित्त हो बगीचे में चुपचाप पड़े रहे। फिर एक दिन एक वैष्णव साधू के साथ किसी से बिना कुछ कहे सुने कहीं चले गये। बगीचे की देख-भाल करने के लिए अपने पीछे एक आदमी छोड़ गये हैं।

दूसरी बात यह कि बीकानेरी टैक्ट विशारद पंडित ने किसी कांग्रेसी मंत्री से मिलकर साझे में आयुर्वेदिक फार्मेसी खोल ली है।

सरकार की ओर से जो ग्रामों में नये देशी औषधालय खोले गये हैं उन सबको औषधि सप्लाई करने का ठेका अपने इन्हीं डाक्टर साहब को मिल गया है। इसीलिये आजकल डिस्पेन्सरी में चाँदी बरसती रहती है। राजेन्द्र का काम बढ़ गया है पर वेतन जहाँ का तहाँ स्थिर है।

इन दो एक बातों के सिवा सोन नदी के किनारे की उस गंगा-सागर बस्ती में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ है।

विगत सात-आठ दिनों से फार्मेसी का सामान खरीदने राजेन्द्र पास ही के बड़े शहर जबलपुर चला गया है। वहाँ चार दिन रुकने की बात

18354

कहकर गया था और आज आठवाँ दिन बीत गया है। इस बीच कोई चिट्ठी-पत्री तक उसने नहीं भेजी है।

इसी बात को लेकर आंगन के कोने में बने राधाकृष्ण के छोटे-से मंदिर के सामने झीनी के बैठने का समय बढ़ गया है। भगवान् के सामने आँखें मूंदे मन ही मन न जाने किस बात की याचना-सी करती रहती है।

उधर पीपल के नीचे बैठी-बैठी रामी आंगन में छोटी-छोटी आड़ी-टेढ़ी लकीरें खींच-खींच कर राजेन्द्र के आने न आने के बारे में अपनी किसी सगनौती विद्या के सहारे सब कुछ जान लेना चाहती है।

उस दिन कार्तिक की पूर्णमासी थी। रात के दस बजे होंगे। अचानक राजेन्द्र की खिड़की से प्रकाश आया।

तभी लगा जैसे सामने पीपल वाले आँगन में स्थिर, अचल दो पाषाण प्रतिमाओं में अचानक प्राणों का संचार हुआ है।

दोनों दौड़ी-दौड़ी राजेन्द्र के पास आ गईं। राजेन्द्र की पगधूलि लेकर रामी तो बिछौना बिछाने लगी और झीनी माथा टेक कर किवाड़ों के पीछे जा छिपी।

बिछौना बिछाते-बिछाते रामी बोली—"चार-पांच दिन से लिखाई पढ़ाई त्यागे देवता के सामने बैठी समय बरबाद करती रही और अब आ गये हैं, तो बाहर छिपी खड़ी है। अन्दर आ न! कितना जाड़ा है। ठंड लग जायेगी·······नहीं सुना ? झीनी! फिर आऊं मैं ?"

झीनी सकुचाती-सी अन्दर आगई। उसके आते ही रामी अनुनय भरे स्वर में बोली—

"मेरी अच्छी-सी बहिन! पहिले तू खाना ले आ। तब आकर बैठना।"

राजेन्द्र बोला—"नहीं खाना मैं नहीं खाऊंगा।"

"झीनी, तू जा। 'ना' कहने से ही मान लूंगी ?"

झीनो चली गई तब रामी ने राजेन्द्र की ओर न जाने कैसी आँखों से देखा कि राजेन्द्र को रोमांच हो आया।

उसे लगा जैसे रामी कहीं उड़ गई है। उसके हाथ पैर यंत्रवत काम करते हिलडुल रहे थे। धीरे-धीरे सिरहाने की ओर झाड़ पोंछ कर तकिया रखते-रखते अचानक वह निर्जीव-सी होकर धरती पर पसर गई।

राजेन्द्र घबरा गया। उसने उठाकर रामी को बिछौने पर लिटा दिया। उसकी फटी आँखों पर एक हथेली रखकर दूसरे हाथ से जल्दी-जल्दी उसकी हथेलियाँ मलने लगा।

तभी रामी को चेत आया। हड़बड़ाती-सी बिछौनें से उठकर राजेन्द्र के पैरों पर माथा टेकती बोली—

"थोड़ी देर धरती पर ही पड़ी रहती तो क्या मर जाती ? क्यों लिटाया मुझे अपने बिछौने पर। बामन हो सो भी ध्यान नहीं रहता।"

"रामी अभी क्या हुआ था तुम्हें ?"

थोड़ी देर कमरे में सन्नाटा रहा फिर रामी भरे गले से बोली—

"मेरी बात जाने दो। इतने दिन वहाँ कैसे लग गये ? कहाँ खाया पिया सो सब बताओ। इतने ही दिनों में कितने दुबले हो गये हो।"

"मेरे जानें के बाद तुम्हें बुरा लगा था रामी !"

सुनकर होंठ दबाती हँसती-हँसती बोली—"मुझे क्यों बुरा लगेगा ? मैं कौन होती हूँ तुम्हारी ?"

"……………।"

"बोलो कौन होती हूँ तुम्हारी ?"

आज अचानक 'आपकी' की जगह 'तुम्हारी' सुनकर राजेन्द्र को लगा जैसे अब रामी नितान्त उसकी अपनी ही हो गई है। कुछ कहने के लिए बार-बार उसके होंठ हिलते हैं पर कुछ भी कह नहीं पाता।

तभी राजेन्द्र के कंधों पर चादर ओढ़ाती बोली—

"बताइये कौन हूँ मैं तुम्हारी ?"

कृतज्ञता से राजेन्द्र का गला भर आया। उसी आवेग में रामी की दोनों हथेलियाँ अपने गर्म हाथों में दबा लीं। रामी ने सिर झुका लिया। राजेन्द्र ने धीरे-से उसकी ठोड़ी ऊपर को उठाई। फिर उस मृगनयनी की आँखों में डूब कर न जाने क्या खोजने लगा।

सहसा दोनों ने द्वार पर जो देखा सो देखकर पानी-पानी हो गये। झीनी चुपचाप वहाँ सिर झुकाये खड़ी थी। राजेन्द्र ठोड़ी छोड़कर सँभलता-सा एक ओर बैठ गया और रामी उस ठीक बिछे-बिछौने को इधर-उधर खींचकर ठीक करने लगी। झीनी हथेली पर थाली रखे अन्दर आई। भोजन मेज पर रखकर चुपचाप बाहर जाने लगी।

रामी लजाती-सी बोली—

"अभी कहाँ जाती है ? बैठ न !"

"कल मेरी परीक्षा है। पढ़ना है।"

"अच्छा, फिर तू जा।"

तभी राजेन्द्र बोला—"झीनी, यह लेती जाओ। तुम्हारे लिए है।" कहते-कहते उसने चमड़े का एक छोटा-सा बेग उसके हाथों में थमा दिया।

झीनी चुपचाप बार-बार कनखियों से अपनी दिदिया की ओर देखने लगी।

तभी रामी बोली—

"हाँ, हाँ जा ले जा।"

झीनी उस बेग को लेकर चुपचाप सिर झुकाये वहाँ से चली गई।

उसके जाने के बाद एक दबी उसांस छोड़ता राजेन्द्र बोला—

"झीनी ने देख लिया था। क्या सोचती होगी अपने मन में ?"

"आप उसका सोच मत करिये।"

तभी राजेन्द्र रामी की ओर देखता बोला—"रामी ! सात-आठ दिनों से एक दूसरे को देखा नहीं था। इसीलिए मुझ से गलती हो गई।

बुरा मत मानना। लगता है जैसे इन सात-आठ दिनों में ही हम दोनों बिल्कुल बदल गये हैं।"

"कैसे ?"

"रामी ! जो उत्तर एक दिन तुमने मुझे दिया था, आज वही तुम्हें लौटा रहा हूं।

"क्या ? क्या उत्तर दिया था मैंने ?'

"यही कि क्या सब कुछ कहकर ही बताना होगा।"

सुनकर आंचल के छोर से हँसी दबाती बोली—"लगता है अब तो अपने डाक्टर बाबू भी कुछ-कुछ सीखने लग गये हैं।"

सुनकर लाज के मारे राजेन्द्र का मुंह लाल हो उठा। तभी वह बोली—

"मेरे लिए क्या लाये हैं ?"

"रामी ! तुम्हारे लिए उस छोटे-से बाजार में कुछ भी नहीं मिला।"

"अच्छा, तो जाने दो। एक बात सुनो।"

"क्या ?"

"डाक्टर बाबू ! आज मेरा जन्म दिन है। आज नहीं आते तो सच कहती हूँ............।" कहते-कहते उसका गला भर आया फिर वह कुछ भी न बोल पायी।

तभी राजेन्द्र ने उसका सिर अपनी दोनों हथेलियों के बीच दबाकर छोड़ दिया फिर बोला—

"रामी, आज मैं नहीं आता तो ?"

"हाँ जी, आते कैसे नहीं ? कोई मन आत्मा से पुकारे तो कोई कहीं रुक पाता है ?"

"रामी ! मैं तुम्हें वहां पहुंच कर हर घड़ी हर पल मन ही मन पुकारता था, फिर तुम वहां क्यों नहीं आई ?"

सुनकर रामी कहीं उड़ गई। जैसे सपने ही में बोल रही हो—

"सच डाक्टर बाबू! मुझे तुम पुकारते थे?" कहते-कहते रामी का मुंह जैसा बन गया सो देखकर उसका रोम-रोम करुणा से भर उठा। बोला—"रामी, आज तुम्हें मेरी एक बात माननी ही होगी।"

"क्या?"

"पहिले वचन दो कि मना नहीं करोगी।"

सुनकर राजेन्द्र को लगा जैसे रामी लौट आई है।

पलक झपकाती बोली—"अच्छा दिया।"

"तो लो मैं कमरे से बाहर हो जाता हूँ। तुम किवाड़-खिड़की बन्द करके पहिले इन सबको पहिन लो।" कहते-कहते उसने कार्ड-बोर्ड के दो बन्द डिब्बे उसके सामने रख दिये।

"नहीं, मुझे नहीं चाहिये यह सब।"

"रामी! तुमने वचन दिया है, बस, चुपचाप पहिन लो।" कहता-कहता वह कमरे से बाहर चला गया। रामी ने किवाड़ और खिड़की बन्द कर लिये।

राजेन्द्र की उस खिड़की की ओर टकटकी लगाये झीनी ने इस खिड़की के बन्द होने और फिर थोड़ी देर बाद खुल जाने का क्या अर्थ लगाया था, सो झीनी और उसके अन्तर्यामी के सिवा इस धरती पर कोई भी न जान सका।

खिड़की के इस बन्द होने और खुलने के बीच की अवधि में, उस कमरे में क्या कुछ घट गया है; उसके सम्बन्ध में उस सद्ययौवना झीनी ने मन ही मन जिस प्रकार के अनुमान लगा लिये थे, सो उन्हीं को लेकर लालटेन की बत्ती धीमी करके वह वहीं चटाई पर औंधी पड़ गई। निःशब्द फूल-फूलकर मन की उस दुःसह व्यथा को धीरे-धीरे आँसुओं की राह बहाने लगी।

फिर आँखें पोंछती उठी और कुछ देर बैठी-बैठी राजेन्द्र के दिये उन कपड़ों, चप्पलों को लम्बी-लम्बी उसाँसे छोड़ती देखती रही। थोड़ी देर पहिले जिन्हें पहिनकर स्कूल जाने के लिए उसका मन ललक रहा था, सो उन्हीं को पैर से एक ओर ठेलती बत्ती बुझाकर उस खिड़की की ओर पीठ किये चुपचाप चारपाई पर लेट गई।

Surrinder Nanda

Library Sri Pratap College Srinagar

क्या सोच लगाया था वह क्यों नहीं लिखा है! साला कहीं का

११

रामी ने कितने वर्षों से रेशमी साड़ी नहीं पहिनी है। इतने दिनों बाद जब उस रेशमी बनारसी साड़ी को उसके अनभ्यस्त हाथ बाँधने लगे, तो वह बार-बार नीचे की ओर खिसकने लगी। पहिनते-पहिनते उसे कुछ अधिक ही देर लग गई। हल्के नीले ब्लाऊज़ पर जैसे-तैसे सुनहले पल्ले वाली नीली साड़ी जब पहिन ही ली, तो एक बड़े शीशे में अपने आपको देख पाने के लिए उसका मन अधीर हो उठा।

तभी बाहर से राजेन्द्र ने पुकारा—

"कितनी देर और लगाओगी?"

रामी ने हड़बड़ाकर खिड़की और द्वार के किवाड़ खोल दिये फिर सिर झुका कर मेज़ के पास जा खड़ी हुई।

राजेन्द्र ने बढ़कर धीरे-से उसकी हथेलियाँ अपने हाथों ले लीं, फिर खींचकर उसे बिछौने पर बिठाने लगा।

वह मृगनयनी घने पलक झपकाती ऐसे बड़बड़ाने लगी जैसे नींद में बोल रही हो। कहने लगी—"........सो नहीं होगा........डाक्टर बाबू ....यह........आप क्या कर........रहे हैं।"

"रामी! तुमने मुझे वचन दिया है, सो मेरी बात माननी ही पड़ेगी। मना नहीं कर पाओगी। चुपचाप बिछौने पर बैठ जाओ।"

रामी पांयती ओर एक कोने पर सिमिट कर बैठ गई। तभी राजेंद्र ने बक्स से निकालकर एक छोटी-सी ढक्कनदार डिबिया निकाली।

डिबिया खोलने पर रामी ने कनखियों से उस ओर देखा। डिब्बी में पुखराज जड़े दो सोने के गोल वुन्दे जगमगा रहे थे। देखकर रामी के मन में वर्षों की कोई असम्भव सुप्त अतृप्त कामना जाग उठी।

उसी समय राजेन्द्र ने रामी के 'ना-ना' करते-करते अपने हाथों से उसके कानों में वे बुन्दे पहिना दिये, फिर जेब से एक पुड़िया निकाली उसके गोरे माथे पर गोल इंगुरी बिन्दी लगा कर, वह दूर जा खड़ा हुआ।

अपने घोटुओं पर ठोड़ी टेके उस नीली झिलमिलाती रेशमी साड़ी में दबी ढकी रामी लजाती सकुचाती-सी चुपचाप बैठी थी और राजेन्द्र दूर खड़ा उसे ऐसे निरख परख रहा था, जैसे कोई मूर्तिकार वर्षों दिन रात अथक परिश्रम करके, अपनी किसी जन्म-जन्म की कल्पना को मूर्तरूप दे पाया हो और अब दूर खड़ा उस अमर-कृति को निहारता किसी अलौकिक आनन्द में डूब गया हो।

राजेन्द्र ने देखा कि उस सुन्दर मूर्ति के घने काले पलकों से अचानक आंसुओं के श्वेत मोती झर उठे हैं।

रामी की छोटी-सी गोल चिबुक बार-बार कांप उठती है और ठोड़ी के पास ही बायें गाल पर भंवरियां बन-बनकर मिटने लगी हैं।

राजेन्द्र चुपचाप धीरे-से उसके पास आ बैठा। उसकी दोनों हथेलियां अपने हाथों में लेकर बोला—

"क्या हुआ है रामी?"

"................।"

"बोलो रामी।"

"................।"

"मुझ से कुछ गलती हुई है?"

"नहीं।"

"फिर रो क्यों रही हो?"

"................ ।"

"बोलो।"

"................ ।"

"रामी!"

वह हिचकती बोली—

"क्यों करते हो मुझे इतना प्यार?" सुनकर राजेन्द्र ने विक्षिप्तों की तरह उसे अपनी बाहों में भर लिया।

कुछ देर दोनों उसी अवस्था में चुप रहे फिर उस आवेग के कम होने पर राजेन्द्र बोला—

"रामी बाहर आंगन में चांदनी है। एक वार तुम्हें उस चांदनी में देखना चाहता हूं। चलोगी?"

"नहीं, डाक्टर वाबू! उससे क्या होगा?"

"चलो रामी!"

"नहीं''''नहीं''''"

तभी राजेन्द्र ने उसे अपनी बाहों में उठा लिया। रामी अपने को छुड़ाती "नहीं—सो नहीं—" बुड़बुड़ाती रही।

राजेन्द्र ने उसका मुंह अपनी ओर करके रूपहली चांदनी में उस सुन्दर चेहरे को देखा, सो देखता ही रह गया। न जांने क्यों बार-बार उसे फुरफुरी-सी आने लगी। रामी को अपनी ओर खींचकर आकाश में झांकते चांद की ओर देखता-देखता बोला—"रामी! संसार में इससे बड़ा सुख क्या और भी कुछ है?"

रामी को लगा जैसे होले-होले उसकी दांती बज उठी है। उसका गला बार-बार भर आता है। कुछ कहना चाहती है पर कह नहीं पाती।

थोड़ी देर दोनों चुप रहे तब जैसे तैसे राजेन्द्र की ओर देखती-देखती बोली—

"डाक्टर बाबू!"

"हां रामी!"

"आज जो अचानक मिल गया है उसे कैसे सह पाऊंगी। डरती हूं, कहीं छिन न जाये।"

राजेन्द्र ने उसकी बात का कोई जवाब नहीं दिया। वार-बार होले-होले उसकी पीठ सहलाने लगा फिर कमरे में लाकर बिछौने पर बिठा दिया।

राजेन्द्र ने रामी के दोनों हाथ अपने हाथों में दबा लिये। कुछ देर उस कमरे में सन्नाटा रहा। फिर उसे अपनी ओर खींचता बोला—

"रामी, आज तुम यहीं रह जाओ।" रामी धीरे-से अपने को छुड़ाकर बोली—

"रह तो जाऊं पर अम्मा और झीनी अपने मन में क्या सोचेंगी?"

"तुम तो कहती थी अम्मा को सूझता ही नहीं है और झीनी तो अभी बच्ची है।"

"सो ठीक है लेकिन अम्मा आंखों का काम कानों से लेना अच्छी तरह जानती हैं। और झीनी भी अब बच्ची नहीं रही है। सब समझती है।"

"तो क्या हुआ ? जाकर सब साफ-साफ कह देना। डर किस बात का है।"

सुनकर दांत से नीचे का ओंठ दबाती मुसकाती बोली—

"जाकर क्या कह दूं, साफ-साफ, जरा मैं भी तो सुनूं।"

"यही कि ...बस यही....कि.... ।"

रामी हँसती बोली—"जो बात मर्द होकर मेरे सामने नहीं कह पाते, सो मैं लड़की सुनाऊंगी जाकर दुनिया को। अच्छा, बताइये क्या कह दूं जाकर?"

"सब तो जानती हो।"

"सच, मैं तो कुछ नहीं जानती।"

"अच्छा बताऊं?"

"हां"

"यही कि तुम मुझे रोज खाना बना कर खिलाती हो। मेरी सब तरह से देखभाल करती हो। मैं तुम्हारे लिए परदेश से लौटकर चीजें लाता हूँ। अपने हाथ से पहिनाता हूँ। और....और....फिर.... ।"

सुनकर रामी ने सिर झुका लिया।

कुछ देर दोनों चुप बैठ रहे तब रामी आर्द्र-कण्ठ से धीरे-धीरे बोली—

"डाक्टर बाबू! आप ऊँची जाति के हैं। सो, भला यह सब कैसे हो सकता है?"

"तुम्हारे हाथ का अन्न खाकर जाति नहीं गई तो अब उसके बाद भी नहीं जायेगी ?"

"नहीं, डाक्टर बाबू! शादी ब्याह की बात दूसरी होती है। तुमने अपने भइया की कितनी क्या बातें मुझे सुनाई हैं। मन करता है उन्हें एक बार अपनी इन आँखों से देख पाती पर डर भी कम नहीं लगता।"

"भइया से डरती हो?"

"हाँ, डाक्टर बाबू! उनके छोटे भाई होकर आप उन्हें नहीं पहिचान पाये हो। मैं उनकी बातें सुनकर दूर से ही पहिचान गई हूँ।"

"ज़रा मुझे भी तो बताओ। तुमसे सुनकर मैं भी आज उन्हें पहिचान लूं।"

"डाक्टर बाबू! हँसने की बात नहीं है। सच कहती हूँ जो भइया भगवान् का भजन किये बिना पानी का घूंट तक गले से नीचे नहीं उतारते सो चाहे कितने ही दयालु हों पर मुझ आनजात की लड़की के साथ तुम्हारी शादी नहीं करेंगे।" कहते-कहते उसकी आँखें छलछला आईं।

"लेकिन, रामी, वे मुझे कितना प्यार करते हैं सो तो तुम नहीं जानती। बचपन से मेरी छोटी-छोटी जिद पूरी करते आये हैं, सो इतनी बड़ी जिद भी पूरी कर देंगे ?'

"जो आदमी अपने छोटे भाई के लिए लड़ने झगड़ने वाली अपनी ब्याहता औरत से बिना बात किये बरसों बिता सकता है उसके

प्यार को भी मैं समझ सकती हूं फिर भी न जाने क्यों विश्वास नहीं होता?"

"लेकिन अभी से ये सब बातें सोच-सोचकर क्यों दुबली हुई जा रही हो? जो कुछ होगा सब देख लूंगा। अब तो एक बार जो हम इस राह पर आगये हैं सो छोड़ नहीं सकते।"

"सो मैं जानती हूँ; लेकिन डाक्टर बाबू ! आज की बात को अपनी ज़िन्दगी की छोटी-मोटी भूल मान कर मुझे भूल गये, तो मैं कहीं की नहीं रहूँगी। मेरे लिये तो फिर कहीं ठौर नहीं रहेगा।" कहकर थोड़ी देर चुप रही फिर बोली—

"और जहां ठौर था सो न जाने कहां जा बैठे हैं?"

"कौन?"

"अब जाने दो उस बात को।"

"नहीं रामी, आज तो मैं सब सुनकर ही रहूँगा। तुम्हारी ऐसी न जाने कितनी बातें हैं जिन्हें सोचत-सोचते मैं कभी-कभी पागल हो उठता हूँ, पर कुछ भी समझ नहीं पाता। कितनी बातें अन्दर ही अन्दर कांटे-सी चुभती रहती हैं, पर पूछने की हिम्मत ही नहीं होती।"

सुनकर रामी विस्मय से राजेन्द्र की ओर देखती-देखती बोली— "सच, डाक्टर बाबू! पर मुझे तो कभी नहीं बताया।"

"कहता तो हूँ, पूछने की कभी हिम्मत ही नहीं होती।"

"अच्छा आज पूछिये मैं सब बताऊँगी।"

"रामी ! एक दिन मैंने तुम्हारे लगी चोट की बात पूछी थी जिसका निशान आजतक तुम्हारे माथे पर है; सो सुनकर तुम्हारा मुंह सफेद क्यों पड़ गया था? क्या बात थी?" सुनकर कुछ देर रामी चुप बैठी रही फिर बोली—

"डाक्टर बाबू ! उस बात को न जानना ही अच्छा है। इस धरती पर ऐसे घिनौने काम भी हो सकते हैं, सो जानकर आपको खुशी नहीं

होगी—हो सकता है सुनकर मुझसे इतनी नफरत करने लगो कि मेरे हाथ का छुआ पानी तक ओंठों से न लगाओ।"

सुनकर राजेन्द्र का मुंह सूख गया। रामी ने बिना उसकी ओर देखे राजेन्द्र का हाथ अपनी हथेलियों में दबा लिया। उसकी पतली ठंडी अँगुलियां कांप रही थीं।

"तुम्हें जाड़ा लग रहा है।" कहते-कहते राजेन्द्र ने पास पड़ा कम्बल उठाकर उसे अच्छी तरह उढ़ा दिया।

सहसा राजेन्द्र ने देखा रामी की पुतलियां आंसुओं में तैर गई हैं। वह बोला—

"तुम्हें यह क्या हो जाता है बार-बार? सब बातें बताने की नहीं होतीं डाक्टर बाबू! न जाने क्यों लगता है आज की यह रात मैं कभी न भुला पाऊंगी। इसकी याद सारी जिन्दगी मुझे रह-रह कर सताती रहेगी।"

"रामी! तुम बार-बार ऐसी अशुभ बातें सोच-सोचकर अपना मन छोटा क्यों कर रही हो? इस तरह क्यों बिना बात के दुःखी हो रही हो?"

"डाक्टर बाबू, दुःख मैं पहिचानती हूँ, उसी के साथ तो आज तक रहती आई हूं, पर आज के इस सुख को पाकर मैं बेचैन हो उठी हूं, फिर आपकी मति बदलते देर कितनी लगती है।"

सुनते ही रामी को खींचकर बिछौने पर जबरदस्ती लिटाते-लिटाते बोला—

"एक दो-बार गलती होगई तो क्या सदा वही करता जाऊंगा?"

रामी साड़ी सम्भालती उठकर बैठ गई। न जाने क्यों वह बार-बार कांप जाती।

राजेन्द्र उसके कंधों पर कम्बल उढ़ाता-उढ़ाता बोला—"चाहे कुछ हो तुम्हारी वह चोट वाली बात बिना सुने मैं नहीं मानूंगा।"

"सो जानती हूं कि जब एक बार मुंह से निकल ही गया है तो बिना सुने नहीं रहोगे।" कहकर वह चुप होगई। फिर बोली—

"डाक्टर बाबू, झीनी मेज पर यहाँ खाना रख गई थी, सो तो ज्यों का त्यों पड़ा है। हाय राम! मैं तो बिल्कुल ही भूल गई।"

"रामी, तुम्हारे इस बतरस के सामने खाने का रस फीका पड़ गया है।"

"सो नहीं होगा डाक्टर बाबू! मेरे जन्म दिन पर आप भूखे रहेंगे —नहीं—खाना आपको खाना पड़ेगा। मैं अपनी बात सुनाती हूँ और आप खाना खाइये।" कहकर रामी उठी। पानी का गिलास भरकर उसने मेज पर रख दिया और चुपचाप सँभलकर अपनी जगह आ बैठी।

Comments:

A useful book for the readers especially for the you
ones. It gives a thrill of j
& acts as advice.

Ramesh Razdan.

१२

राजेन्द्र ने पूड़ी का पहिला ग्रास मुंह में रखा ग्रोर तभी रामी एक दबी उसाँस छोड़ती बोली—

"डाक्टर बाबू! मेरी माँ किस जाति की हैं। मेरे बापू ने उन्हें कब कहाँ पाया था सो इस गंगासागर बस्ती में कोई नहीं जानता। सब उन्हें बापू की व्याहता ग्रोरत ही मानते हैं।"

"यहाँ जिन्हें मेरे बापू के नाम से सब जानते-पहिचानते हैं वह कभी यहाँ से बहुत दूर किसी छोटी रियासत में शराब का ठेकेदार था। कहते हैं वह उस रियासत के स्वर्गवासी महाराज की किसी रखैल का बेटा है। कभी वह भी महलों में पला था, बाद में तरह-तरह के दुःख उठाता शराब का ठेकेदार बन गया। उस रियासत के महाराजा तबियत के रंगीले थे, पर मन के उतने बुरे नहीं थे। किसी पर्व के मौके पर गंगास्नान करने काशी गये थे। तब यह बापू भी उनके साथ था। ऊपर से वह महाराज का बड़ा ग्रादर सत्कार करता था पर ग्रन्दर ही ग्रन्दर ईर्ष्या की ग्राग में जलता रहता था।

इस बापू ने ही मेरी माँ के रूप को गली कूँचों में चक्कर काट-काट के खोज निकाला। फिर महाराज को ले जाकर दिखला भी ग्राया। डाक्टर बाबू, वे महाराजा माँ के रूप पर ऐसे रीझे कि जाने कितने

हज़ार दे दिलाकर इस बापू की मदद से उन्हें अपने साथ रियासत में ले गये।"

राजेन्द्र विस्मय से मुंह बाये उसकी ओर देखता-देखता बोला—"किससे खरीद लाया? सगे बाप ने लड़की का सोदा कर लिया?"

"नहीं डाक्टर बाबू, उनके बाप तो अपने ब्राह्मण वंश की नाक नीची न हो जाये इस डर से अपनी बाल-विधवा कन्या को बनारस छोड़ गये थे। आगरे के पास ही किसी गांव में मां का जन्म हुआ था। जब मेरी मां बीस-बाइस साल की थीं तो एक बार जो उनका पांव फिसला तो फिर उन्हें सँभालने वाला कोई भी न मिला। जो मिला सो धक्का लगाकर उनका वह फिसला पैर कीचड़ में ही घसीटता गया।" कहकर वह चुप होगई।

सुनकर राजेन्द्र ने थाली एक ओर सरका दी और हाथ धोकर चुपचाप सांस रोके रामी की बातें सुनने लगा।

रामी खिड़की के बाहर आकाश की ओर न जाने क्या देखती बोली—

"डाक्टर बाबू, हम दोनों बहिनें उन्हीं महाराज की लड़कियां हैं। सच, कभी-कभी वे दिन भी याद आ जाते हैं।"

हम दोनों राजकुमारियों की तरह महलों में रहती थीं। ज़रा-सी रूठ जातीं तो महाराज और महारानी तक हमें मनाने के लिए दौड़े आते थे।

उन दिनों उस छोटे से राज्य में मेरी मां की कितनी चलती थी, सो आज कोई विश्वास नहीं करेगा। वे महारानी ऊपर से हम लोगों की बड़ी खातिर करती थीं और अन्दर ही अन्दर जड़ें खोदती रहती थी। वे महारानी होकर इस नई सौत को क्यों सहती?

सो, जब मां का रूप ढल गया तो बदचलनी का कलंक माथे पर लगाकर महाराज ने मुरझाये फूल की तरह रनवास से बाहर रास्ते पर फेंक दिया। और यह सब उन महारानी ने ही किया था।

Sri Pratap College

महाराज ने सबसे छिपकर हम सब की सार संभाल के लिए इस बापू को सोने की ढेर सारी गिन्नियां देकर हमारे साथ ही भेज दिया था।"

"फिर— ।"

"तब मैं चौदह साल की थी और झीनी होगी कोई नौ साल की। डाक्टर बाबू, उन दिनों के क्लेश को याद कर-करके छाती फटने लगती है।

मैं तो सब समझती थी इसलिए मन हीमन रोती थी; पर ऊपर से कुछ भी नहीं कहती थी। पर झीनी सिर पटक-पटककर महाराजा के लिए—"अन्नदाता! अन्नदाता के पास जाऊंगी।" कह-कहकर आंगन में लोटती आंसुओं से घर भर देती थी।

तब मां ने चिमटा करछुली से पीट-पीटकर जैसे-तैसे कुछ दिनों में उसे काबू में कर लिया।

हम दोनों बहिनों को न जाने वह दुष्ट आदमी फूटी आंखों देखा नहीं सुहाता था पर मां ने थोड़े ही दिनों में पीट-पीटकर उसी को 'बापू' कहकर पुकारना सिखला दिया। और फिर उन महलों से आकर इस झोपड़ी में बसते-बसते जाने कितनी नई बातें सीखनी पड़ी थीं—सो सब आज याद नहीं हैं।

उसके बाद कोई बरस भर में महाराजा ने जो कुछ उस बापू को दिया था, सो उसने शराब और बुरे कामों में फूंक-फांक दिया। जब रुपया नहीं रहा तो शराब पीकर आता और मेरी मां को मार-मारकर बिछा देता। मां रोते-राते अंधी हो गई। और हमें जिस तरह उन्होंने जन्म दिया था, सो हम बहिनें उसी का भोग भोगने लगीं। जिस दिन पहली बार दूसरों के घर में मेहनत मजूरी करने गई, सो कभी नहीं भूल पाती।' कहते-कहते उसका गला भर आया।

"रुको नहीं रामी कहती जाओ।"

"डाक्टर बाबू, भादों की काली अंधियारी रात थी। उस दिन खाने को घर में आटा तक नहीं था। जो पैसा दिन भर मेहनत मजदूरी करके

लाई थी, सो अम्मा के हाथ से छीनकर शराब पीने वही हमारा बापू चला गया और हम भूखी माँ बहिनें दालान में लेटी थीं।

घर में एक ही खाट थी। झीनी तो अम्मा के साथ खाट पर लेटी थी और मैं उनसे थोड़ी दूर दरी बिछाये पड़ी थी। पास ही लकड़ी की दीवट पर मिट्टी का दीया जल रहा था। हारी थकी थीं सो भूखे पेट भी नींद के मारे मेरी आँख झपकने लगीं। मैं दीया बुझाकर सो गई।"

"डाक्टर बाबू मैं सपने में देख रही थी कि किसी वियावान जंगल में जा पड़ी हूँ। तभी एक डरावना अजगर मेरे पैरों में आ लिपटा, फिर धीरे-धीरे उसने अच्छी तरह मुझे जकड़ लिया।

मैं चीखना चाहती थी पर मुंह से आवाज़ नहीं निकलती थी। तभी मेरी आँख खुल गई।

आँख खुलते ही मुझे लगा कि सचमुच ही मुझे किसी ने चारों ओर से जकड़ लिया है। कुछ देर तो मैं समझ ही नहीं पाई कि मैं जाग रही हूँ या सपना देख रही हूँ।

तभी शराब की बदबू के मारे मुझे उबकाई आने लगी। बस यह समझते मुझे देर नहीं लगी कि किसके मन में ऐसा घिनौना पाप करने की भूख जागी है।

डाक्टर बाबू, न जाने मुझ में उस दिन कहाँ से ऐसी ताकत आगई कि मैंने अपने को छुड़ाकर उस अपने बापू को एक ओर फेंक दिया।

उस रात कैसे रौरव नरक में गिरते-गिरते मैं बच गई, सो उस बात को मैंने किसी से आज तक नहीं कहा। यहाँ तक कि अपनी सगी माँ से भी नहीं। आज पहिली बार तुम्हें ही बता रही हूँ।"

सुनकर राजेन्द्र ने भावावेश में रामी के गाल थपथपा कर कहा—"फिर रामी!"

कुछ दिनों तक वह बापू घर में नहीं आया फिर धीरे-धीरे आने लगा पर कभी मेरे साथ छेड़छाड़ नहीं की। फिर बरसात के बाद जाड़े आये तब मुझे छेड़ने की एक नई तरकीब निकाली।

न जाने क्यों सुबह ही सुबह मुझे जगाने लगता था। जगाते-जगाते वह जहाँ-तहाँ जिस तरह मुझे छूता था सो उस बात से मारे गुस्सा के मैं कांप उठती थी पर कहती किससे? एक दिन गुस्से में आकर उसका हाथ दाँतों में भींचकर ऐसा काटा कि कई दिनों तक पट्टी बाँधनी पड़ी पर उस नई मुसीबत से छुटकारा पा गई।"

सुनकर राजेन्द्र की मुट्ठियाँ बँधने लगी। रामी बोली—"तब दिन-रात मैं यही सोचा करती थी कि मेरे एक बड़ा भाई होता तो....तो....।" कहती-कहती वह रो पड़ी।

राजेन्द्र ने उसे रोता देख अपनी ओर खींचा और रामी उसके कंधे से आ चिपटी। थोड़ी देर तक उस कमरे मे सन्नाटा रहा। फिर आँसू पोंछती एक ओर को हटकर रामी बोली—

"डाक्टर बाबू! उस आदमी के लिए मेरे मन में कितनी नफरत है कि मैं बता नहीं सकती और उसी को अपने हाथों से खाना बनाकर रोज थाली परोसकर खिलानी पड़ती थी। जब तब जाकर उसके हाथों में पानी का गिलास भी थमाना पड़ता था। हाय! हाय!! ....।"

कहते-कहते रामी को ऐसी फुरफुरी आई जैसे कहीं बिखरे मैले पर भूल से उसका पैर पड़ गया हो। फिर घृणा से कांपती, आँखें भींचती बोली—

"हाय! डाक्टर बाबू, ऐसा नीच आदमी इस धरती पर कभी नहीं हुआ। जब खाना परोस कर उसकी ओर थाली सरकाती तो जिस तरह ओंठ सिकोड़कर आँखें मिचकाता सो देखकर मन करता था कि उसकी इन आँखों को नाखूनों से भींच डालूं। गला दबाकर उसकी जान ले लूं।" कहते-कहते वह हाँफने लगी।

राजेन्द्र बोला—"वह अब गया कहाँ दिखाई नहीं देता।"

रामी बोली—उस दिन जब पहिले दिन आप यहाँ आये थे। उस रात शराब पीकर एकाएक मुझ सोती को बाहों में जकड़ लिया। जब मैं कैसे भी न मानी तो पास पड़ा पत्थर मेरे माथे पर दे मारा। मैं

किसी तरह उस पत्थर को बचा गई पर थोड़ी-सी चोट उसी छीना-झपटी में लग गई थी। उस दिन के बाद आज तक वह घर नहीं लौटा।" कहते-कहते रामी चुप हो गई। फिर बोली—"और डाक्टर बाबू! जिन्हें उस दिन आपने दाढ़ी वाला बकरा कहा था वे तब मेरे पिछवाड़े रहते थे। तब उनके दाढ़ी नहीं थी। ओठों पर छोटी-छोटी रेख निकल रही थी।"

महमूद मियां का प्रसंग छिड़ते ही राजेन्द्र संभलकर बैठ गया।

रामी बोली—"एक दिन जब दो घंटे में ही हैज़े की बीमारी से उनके अब्बा इस दुनियां से चल बसे, तो वे घर में अकेले ही रह गये थे।

सोचा ऐसे घर में अब काम करना छोड़ दूं पर छोड़ न पाई। लेकिन उन्होंने जरूर घर छोड़ दिया। मेरे पहुंचते ही घर से बाहर चले जाते थे और जब मैं काम-काज करके घर आने को होती तो न जाने कहां से आंगन में आ खड़े होते।

डाक्टर बाबू, बचपन में मुझे एक मास्टरजी पढ़ाने आते थे पर मेरा मन पढ़ने-लिखने में कभी न लगा, फिर भी किताबों में कुछ किस्से कहानियां पढ़ी थीं पर उनमें भी कभी ऐसे किसी भले आदमी की कहानी नहीं पढ़ी, न इस धरती पर ऐसे गो आदमी को कभी देख पाई जैसे ये हैं।"

"सो तो तुम्हारी बातों से भी कभी-कभी समझ लेता था। तुम और तुम्हारे इन महमूद मियां को लेकर, रामी, जाने मेरी कितनी रातें बिना पलक झपकाये ही बीत गई हैं।"

"सच, आप भी बड़े वहमी हैं।"

"अच्छा, तुम अपनी बात सुनाओ।"

"डाक्टर बाबू, मैं तुम्हें कैसे बताऊं कि उनकी भलमनसाहत और नेकनियती देख-देख उन्हें मन ही मन कितना प्यार करने लग गई थी। उन्हीं दिनों एक दिन उन्हें तेज बुखार होगया। दो दिन और तीन रातें उनके पास बैठकर ही बताई थीं।"

तभी राजेन्द्र को याद आया—महमूद मियाँ ने एक दिन अपने बगीचे में बताया था कि माँ की तरह दुलराने वाली बहिन की तरह भले-बुरे का ख्याल रखने वाली बीवी पाकर भी वे नहीं पा सके थे। सोचने लगा सो क्या यह रामी ही थी?

रामी सुनाये जा रही थी और राजेन्द्र का मन महमूद मियाँ के बारे में इस उसके मुंह से सुनी अच्छी-बुरी बातों में उलझ गया था। तभी रामी ने ऐसा प्रसंग छेड़ा कि राजेन्द्र सब ओर से मन खींचकर साँस रोके रामी की बात सुनने लगा। वह कह रही थी—

उस दिन अचानक उनका बुखार बहुत तेज होगया था सो सारा होश-हवास खो बैठे। बुखार की तेजी में न जाने कैसी प्यार-प्रीत की बातें कह उठे। मैं जानती थी कि होश रहते अपने मुंह से वैसी बातें वे कभी न निकालते चाहे बिना कहे उनके प्राण ही निकल जाते। पर तो भी सुनकर मैं लाज के मारे पानी-पानी होगई।

"क्या क्या कहा था?"

"कहने लगे—'रामी, मैं तुम से मुहब्बत करता हूँ।' बस यह कहते-कहते ही उनकी आंखें छलछला आईं। फिर भर्राये गले से बोले—'रामी, मैं तुम्हें खुदा से भी ज्यादा प्यार करता हूँ।' फिर तिजोरी की चाबी मेरी ओर सरकाते बोले—'तुम बहिन की तरह मेरे भले-बुरे का ख्याल करती हो सो क्या बीवी बनकर प्यार........'।"

तभी राजेन्द्र जोर से चीख पड़ा—

"रा ऽ मी ऽ ऽ ऽ !"

सुनकर रामी काँप गई। मारे आश्चर्य के कुछ देर मुंह बाये राजेन्द्र की ओर देखती रही फिर बोली—

"क्या हुआ डाक्टर बाबू!"

वह क्रोध में काँपता बोला—"आखिर वही बात निकली जो मैं सोचता था। तो उस दिन तुम बगीची से ही आधी रात को अपने उन प्रियतम को खिला-पिलाकर लौटी थी? मुझे पहिले क्यों नहीं बताया?

अभी अभी कह रही थी—"जहां ठौर था सो न जाने कहां जा बैठे हैं?" वह कहीं जा बैठे तो तुम यहां मेरे पास आ बैठी। क्यों ? तुम्हें क्या आदमी बदलते देरे लगती है?"

रामी दांतों से जीभ काटती बोली—"लेकिन डाक्टर बाबू! मैंने तुम्हें अभी बताया था कि मैं उस बापू के अत्याचारों से तंग आकर तब दिन-रात यही सोचा करती थी कि मेरे कोई भाई होता सो मैं तो उन्हें अपने मन में भाई........।"

पर क्रोध में कांपता राजेन्द्र कुछ भी न सुन पाया। वह बीच ही में फूट पड़ा—

"रामी! तुमने मुझे छुआ क्यों? तुम्हारा यह शरीर पाप से बना और आज तक पाप के अन्नजल से ही पलता आया है।

रामी! मैं तुम से घृणा करता हूं। उस हवा से भी जो तुम्हें छू-छूकर इधर आ रही है।"

रामी आंखें फाड़े उसके चेहरे की ओर देखे जा रही थी। उसे लगा जैसे राजेन्द्र के उस सफेद चेहरे में एक बूंद भी खून नहीं रहा है।

धीरे-धीरे उसे लगा जैसे धरती, आकाश, छत, दीवालें सब कुछ घूम उठा है। जैसे चारों ओर से अंधियारी घिरती आ रही है उसका जी मिचलाने लगा।

कुछ देर उस कमरे में सन्नाटा रहा फिर वह धीरे-से उठी और कोने में पड़े अपने कपड़े लत्ते उठाकर बाहर चली गई।

राजेन्द्र स्तब्ध पाषाण प्रतिमा की भांति जहां का तहां द्वार की ओर मुंह किये बैठा का बैठा ही रह गया।

थोड़ी देर बाद उसे लगा जैसे उसकी नसों में फिर खून दौड़ने लगा है। तभी कार्तिक की उस रुपहली चांदनी में उसने देखा कि किसी के दो हाथ द्वार की ओर धीरे-धीरे आगे बढ़ रहे हैं और अपने जन्म दिन में मिले उन उपहारों को—यौवन के अदम्य उन्माद में हुई प्रथम भूल

Very Tragic my friends

के चिह्नों को—उस देहरी पर रखकर वे दोनों हाथ जिधर से आये थे उसी ओर हौले-हौले चले गये हैं।

साथ ही एक गहरी उसांस सुनाई पड़ी फिर कानों ने सुना—कोई सीढ़ियों से उतर कर चला गया है।

राजेन्द्र को लगा जैसे किसी दलदल में वह धंसता चला जा रहा था। अचानक विधि की किसी अज्ञात अनुकम्पा से उसकी रक्षा हो गई है।

राजेन्द्र को भगवान् में कभी विश्वास नहीं रहा। तो भी आज न जाने क्यों उसी को स्मरण करके अपने दोनों जुड़े हाथ कपाल से लगा लिये।

निराला

good Novel worth Reading

१३

शरद् ऋतु की स्निग्ध चन्द्रिका से रामी का सारा आँगन रुपहला हो जगमगा उठा था पर राजेन्द्र के कमरे से निकलकर गिरती पड़ती रामी जब अपने आँगन में पहुँची; तो उसे लगा जैसे किसी मरघट की मनहूस चाँदनी ही चारों ओर बिखर गई है।

थोड़ी देर वह वहीं गुमसुम-सी खड़ी रही फिर आँगन पार करके जब दालान में पहुँची तो अम्मा ने धीरे-से कहा—

"इतनी रात तक कहाँ रही बेटी?"

"डाक्टर बाबू लौट आये हैं।"

"सो तो झीनी ने बताया था लेकिन मुर्गी बोल रही है। इतनी रात तक........ अच्छा जा कर सो रह।"

रामी झीनी के पास आकर चुपचाप लेट गई। उसने सदा की भाँति झीनी की बाँह खींचकर अपने गले में उलझा ली पर न जाने क्यों झीनी ने अपनी बाँह को वापस खींच लिया और पीठ देकर पड़ गई।

उससे रामी अच्छी तरह समझ गई कि झीनी जाग रही है। कितने सालों से झीनी के इस स्वभाव को वह देखती आई है, रूठने पर सदा वह पीठ देकर ही लेटती है; किन्तु आज किस बात को लेकर वह रूठी पड़ी है सो किसी भी तरह न जान पाई।

सोचने लगी—मेरी ठोड़ी पकड़े उन्हें देखा था क्या इसीलिए? इसी से पढ़ने का बहाना करके चली ग्राई थी?

रामी ने चाहा कि एक बार खींचकर उसे छाती से चिपटा ले पर नहीं—नहीं—ग्राज रामी ग्रपना सब कुछ खो ग्राई है। ग्राज तो उसने प्यार करने की शक्ति भी कहीं खो दी है। ग्रब वह किसी को भी प्यार नहीं कर सकेगी।

लेटी-लेटी सोचने लगी—मैंने कभी किसी का सहारा नहीं खोजा ग्रौर जिस रात ग्रचानक उसे पाने की ग्राशा बँधी, उसी रात सदा-सदा के लिये खो भी ग्राई।

फिर ध्यान ग्राया पास लेटी उस झीनी का। सोचने लगी—"मैंने इसके लिए कैसे-कैसे ग्रपमान सहे ग्रौर ग्राज भी सह रही हूँ।"

सोचती थी पढ़ा-लिखाकर कहीं मास्टरनी बना दूंगी। इज्ज़त से रहेगी। इसीलिए कैसी-कैसी बातें सहती ग्रारही हूँ ग्रौर यह मेरा थोड़ा-सा सुख भी न सह पायी?

कहती थी—"दिदिया! शादी क्यों नहीं करती?" ग्रौर ग्राज···· हे राम! इस इतनी बड़ी दुनियां में क्या कभी कोई ऐसा नहीं मिलेगा जिसे मैं ग्रपना कहकर पुकार पाती। जिसे ग्रपने सुख-दुःख की बात बता पाती।

कितने सालों से ग्रकेली ही घुटती ग्रारही हूँ। कहीं जी भर कर रोने की जगह भी तो नहीं मिलती।

फिर न जाने क्या सोच-सोचकर मारे रुलाई के उसकी छाती फटने लगी। मुंह में साड़ी का छोर दबाये वह बार-बार कांप उठती है।

तभी झीनी ने पीठ फेरी। उससे चिपटती बोली—

"दिदिया।"

"········।"

"दिदिया।"

सुनकर रामी की कँपकँपी और बढ़ गई। वह किसी भी तरह बोल नहीं पायी।

तभी झीनी ने मन ही मन अपनी दिदिया की इस रुलाई का सम्बन्ध खिड़की के बन्द होने और थोड़ी देर बाद खुल जाने से लगा लिया। यह ध्यान आते ही उसे लगा जैसे उसकी दिदिया की देह में साँप-बिच्छू लिपटे पड़े हैं।

वह फिर पीठ देकर लेट गई। जब भी उसके शरीर का कोई अंग रामी से छू जाता है तो मारे घृणा और क्षोभ के वह तिलमिलाने लगती।

अन्त में वह उठकर बैठ गई। कुछ देर चुपचाप बैठी रही फिर बत्ती जलाकर सामने दालान में किताब लेकर पढ़ने बैठ गई। झीनी नहीं चाहती थी कि दिदिया उसके मन की बात जानने पाये।

रामी न उसे उतने समय उठकर पढ़ते देखा तो मन ही मन सोचने लगी—तो क्या सचमुच ही इसकी आज परीक्षा है? परीक्षा के दिनों में ही तो वह इस तरह उठकर पढ़ती है। तो इसके बारे वैसे ही इतनी भली बुरी बातें सोच डालीं? उसका मन करने लगा कि उठकर एक बार उसे छाती से चिपटा ले।

जीवन के जान कितने बड़े दुःख कलेश झीनी को छाती से चिपटा कर ही सह पाई है। सो आज भी एक बार उसे छाती से चिपटाने के लिए वह व्याकुल हो उठी। पर उसकी पढ़ाई का ध्यान करके उठी नहीं। चुपचाप लेटी रही।

तभी लालटेन के प्रकाश में झीनी के मुंह पर जो कुछ देखा सो उसे अच्छी तरह पहिचान लिया। चाहे और किसी से छिप जाये पर ईर्ष्या के इस भाव को एक लड़की कैसे भी दूसरी से नहीं छिपा पाती। सो झीनी भी न छिपा पाई।

कुछ देर रामी चुपचाप लेटी रही। अचानक झीनी के प्रति न जाने कैसे ममत्व-मातृत्व से वह पुलकित हो उठी।

रामी बोली नहीं; पर अक्षर मात्राओं की भाषा में बोलने से पूर्व जो भाव-चित्र मस्तिष्क में बन जाता है, उसी को उसने मन ही मन पढ़ लिया—

'हाय झीनी! आज तेरे मन में भी क्या यही बात जागी है?"

× × ×

सुबह उठकर दोनों में कोई बात नहीं हुई। अम्मा बाहर बैठी धूप सेंक रही थी। जब किताबें लेकर नंगे पैर झीनी स्कूल को जाने लगी तो रामी ने कहा—

"झीनी!"

"हूँ!"

"जब उनसे चप्पलें ले ही आई हो, तो पहिनती क्यों नहीं?"

न जाने क्यों सुनकर झीनी को गुस्सा आ गया। कांपते स्वर में बोली—

"मैंने ली थीं ये चप्पलें? मैंने मांगी थीं? मैं क्यों मांगूंगी किसी से? चाहे पहिनो, चाहे फेंक दो।"

झीनी को बिना बात के क्रोध करते देखकर अपने इतने बड़े दुःख में भी रामी को हँसी आगई। उदास हँसी हंसती बोली—"झीनी! तू नाराज़ क्यों होती है? तेरे मन की बात तेरी यह दिदिया नहीं समझेगी तो कौन समझेगा?" कहती-कहती रामी उठी और झीनी को खींचती कमरे में ले गई।

राजेन्द्र के दिये एक एक कपड़े को पहिना दिया फिर अपने ही हाथों से उसके पैरों में उन नई रंगीन माहुरी चप्पलों को पहिनाकर दूर जा खड़ी हुई। कुछ देर न जाने कैसी आंखों से उसे देखती रही फिर छाती से चिपटाकर भीगी पलकें झपकाते अपनी उस लाड़ली हठी बहिन को विदा कर दिया।

झीनी को याद नहीं आता कि उसने कभी जीवन में अपनी दिदिया से मुंह दर मुंह वैसी कड़ी बात कही हो किन्तु उत्तर में दिदिया का

वैसा व्यवहार देखकर विस्मय से अभिभूत और विमूढ़-सी झीनी कुछ देर चुपचाप खड़ी रही फिर जाते-जाते कुछ नरम होकर बोली—

"आज स्कूल से लौटने में मुझे देर हो जायेगी सालाना जल्सा है।" कहती-कहती वह चली गई।

झीनी जब चली गई तो उसे लगा जैसे जीवन का संचित समस्त आनन्द, जीवन-रस का कण-कण अपने रोम-रोम से खींचकर उसने अपनी झीनी पर चढ़ा दिया है।

अब लगता है जैसे नीरस पत्थर ही उसमें शेष है, तृष्णा-वितृष्णा, हँसना-रोना, सब उसके लिए समान है। जैसे उसका सारा अस्तित्व एक अपार असीम शून्यता के बीच डूब गया है। वह दरी खींचकर चुपचाप दालान में लेट गई।

१४

हायरे युवा नर-नारी के प्रेम!

रामी से झगड़ने के दूसरे दिन कम्पाउण्डर की कोठरी में बैठा-बैठा राजेन्द्र उसी की बातों को ले-लेकर मन की ग्रीष्म दुपहरिया में तप्त-क्रोध की ज्वाला से दिनभर जलता-भुनता रहा।

तब उसे क्या पता था कि उसी समय उसी के चारों ओर कहीं प्रच्छन्न आकाश में बूंद-बूंद इकट्ठा हो-हाकर घन-घटाओं का भी सृजन हो रहा था।

उस रात डिस्पेन्सरी का काम निबटाकर भूखा-प्यासा राजेन्द्र जब अपने कमरे में आ लेटा तो उसके रोम-रोम में असंख्य घन-घटायें गर्जन-तर्जन करतीं उमड़ने-घुमड़ने लगीं।

उसका कंठ बार-बार भर आता। न जाने कब कैसे रामी के उस कल्पित महान् अपराध को क्षमा करके उसे देखने, उससे बातें करने के लिए वह अधीर हो उठा। पिछली रात जिस युवा नारी के शरीर की गर्मी उसके रोम-रोम में समा गई है; वही जैसे भाप बन-बनकर उसकी आंखों से बरसने लगी।

उसी समय किसी ने कांपते कण्ठ-से पुकारा—

"डाक्टर बाबू।"

लेकिन किसने सुना? ऐसी घन-घटाओं के गर्जन-तर्जन में कौन किसे

Library Sri ...

सुन आता है? तभी लगा जैसे कहीं अचानक बिजली कौंध गई है। एक उठती लम्बी सांस को भीतर ही भीतर दबाकर राजेन्द्र बोला—

"झीनी!"

"हाँ जी।"

"तुम, इतनी रात गये!"

"हाँ, डाक्टर····बा····बू।" कहते-कहते बीच ही में रो पड़ी।

"क्यों? क्या हुआ?" कहता-कहता वह उठा और लालटेन जलाकर मेज पर रख दी। उसने देखा—झीनी उसकी देहरी पर बैठी निःशब्द फूल-फूलकर रो रही है।

राजेन्द्र किसी अप्रत्याशित आशंका से त्रस्त मुंह फाड़े झीनी की ओर देख रहा था। फिर सम्भलकर बोला—

"झीनी, क्या बात है?"

"············।"

"झीनी!"

झीनी ने हिचकियों के वेग को रोककर एक सांस में कहा—"दिदिया घर छोड़कर कहीं चली········।" कहते-कहते वह फिर वहीं औंधी पड़ गई। जहां पिछली रात स्नेह-दान को लौटाकर रामी चुपचाप चली गई थी।

झीनी की बात सुनकर राजेन्द्र को लगा जैसे बिना घन-घटा के अचानक कड़कती बिजली उसके ऊपर गिरकर सब कुछ क्षार-क्षार करके चली गई है। कुछ देर वह अपने ही में डूबा सोचता-विचारता रहा कि कहां गई? क्यों गई? अब वह क्या करे? और जब उस देहरी की ओर देखा तो पता चला कि झीनी वहां से उठकर चली गई है।

उसकी निगाह आकाश की ओर गई। चांदी की थाली-सा चांद ठीक उसके द्वार के सामने झांक रहा था। वह बिछौने पर लेटा-लेटा उसी ओर देखने लगा।

उसे लगा जैसे चाँद में से किसी का परिचित चेहरा उभरता आ रहा है—वही स्नेह में सराबोर निरुपाय निःसहाय नारी ! जिसके माथे पर कल उसने सिन्दूरी बिन्दी लगाई थी, जिसकी आँखों में न जाने क्या बार-बार छलक उठता था, और जिसे अपनी गलती से ही वह अचानक खो बैठा है।

सोचने लगा—कल इसी समय कल्पना के हिंडोले पर बैठा रामी को छाती से चिपटाये न जाने कहाँ, किस लोक में उड़ा जा रहा था। बार-बार सिहर-सिहर कर काँप उठता था और थोड़ी देर बाद ही वह घृणा और क्रोध से जलता-भुनता चीख पड़ा था—'राऽमीऽऽ'

वही एक शब्द 'रामी' अब उसके कानों में बार-बार गूंज उठता है —राऽमीऽऽ राऽमीऽऽ—राऽऽमीऽऽ

सहसा उसका अन्तर्यामी बोल उठा—अरे ओ बज्र मूर्ख चाँद के इस चेहरे से कब तक मन बिरमायेगा ? उठकर रामी के असली चेहरे की खोज खबर क्यों नहीं लेता ? जब घर छोड़कर चली गई है तो पहिले स्टेशन ही तो गई होगी। पाँचेक मील ही तो है। दौड़! भाग!! अब भी समय है !!

राजेन्द्र को पता ही न चला कि कब एक चादर ओढ़े वह रेलवे स्टेशन की ओर हाँफता-हाँफता दौड़ चला।

स्टेशन पहुंचकर पूछताछ करने पर पता चला कि पूर्व, पच्छिम की ओर जाने वाली दोनों गाड़ियाँ जा चुकी हैं।

रामी की उम्र, आकृति, पहिनाव, उढ़ाव का विवरण दे-देकर भी हर किसी से पूछता फिरा, पर उसका कहीं भी पता न चला। अन्त में जिस मार्ग से थोड़ी देर पूर्व वह आया था उसी पर चुपचाप लौट चला।

चलते-चलते जाने कैसी-कैसी बातें उसके मन में जागती हैं। भीतर ही भीतर उसका मन मसोस उठता।

तभी उसे अपने बड़े भइया की एक बात याद आई।

बचपन में एक बार उसी के गाँव का खंजन नाम का ग्वाला झूठे आँसू बहाकर राजेन्द्र के भइया से कुछ रुपये ठग ले गया था।

सारा गाँव जानता था कि वह ग्वाल, परले दर्जे का ठग है लेकिन भइया को इस बात पर कभी विश्वास न आता था।

उस दिन जब वह अपने दुःख क्लेश की मनगढ़न्त कहानियाँ सुना-सुनाकर भइया को ठग ले गया तो इसी बात को लेकर खिन्न-चित्त राजेन्द्र भइया के पास फरियाद लेकर पहुँचा। बोला—

आपके पास मेरे स्कूल की फीस नहीं है। कितने दिनों से माँग रहा हूँ पर देते ही नहीं और आज उस मक्कार झूठे के लिए कहाँ से पैसे निकल आये ?

सुनकर भइया के चेहरे पर रह-रहकर हँसी बिखर उठी थी। उसके सिर पर हाथ फेरते-फेरते बोले थे—

"राजू ! जिस कल्याणमय ने इस सृष्टि की रचना की है उसकी लीला को आज तक कौन समझ पाया है। उसकी मर्जी के बिना तो एक पत्ता भी नहीं हिलता।

जो मुझ से माँगने आता है, सो क्या उस प्रभु का ही भेजा हुआ नहीं होता ? अगर सचमुच ही मैं ठगाया जाता हूँ तो मेरा यह स्वभाव भी तो उसी महाप्रभु का दिया हुआ है, फिर इसमें दुखी होने की क्या बात है ? तू जा तेरी फीस का भी दो एक दिन में कुछ न कुछ प्रबन्ध हो ही जायेगा।'

विचार आया—मैंने बिना बात के रामी पर अविश्वास किया ! महमूद मियाँ उसे बीवी बनाना चाहते थे पर उसने तो स्वीकार नहीं किया। फिर क्यों उसे लाँछित किया ! क्यों है मेरा ऐसा अविश्वासी मन ? क्यों किया ऐसा वहम ? तो क्या मेरे इस स्वभाव के पीछे भी क्या उसी महाप्रभु का कुछ संकेत है ? मेरा यह स्वभाव भी तो मेरे भइया के उन्हीं लीलामय का दिया हुआ है।

क्या वही ऊपर बैठा-बैठा यह सब कुछ नहीं करा रहा है ? फिर दुःख क्या है ?............क्या है दुःख ? पर विश्वास तो नहीं जमता।

नहीं ! यह सब झूठ है। मैं नहीं मानता। जो किया है, वह मैंने किया है। सत्-असत् जो कुछ करता हूं, मैं करता हूं। कर्त्ता-भोक्ता सब मैं हूं। फिर उसके परिणाम से भागूं क्यों ? डटकर सामना क्यों न करूं ?

तभी ध्यान आया—काश ! यही बात रामी को समझा पाता। वह भागी क्यों ? सामना क्यों नहीं किया ? डाक्टर के मुंह पर चांटा मारा था। जब मैंने उसे लांछित किया तो मेरा मुंह क्यों नहीं नोच लिया ? भागी क्यों ? क्यों ?

राजेन्द्र ! सोचो, सोचते जाओ। इस सोचने का कोई अन्त नहीं है। दूसरे का न्याय करते समय हमारे निर्णय सदा से ऐसे ही हुआ करते हैं। लेकिन कभी अपने बारे में सोचा—कि तू जो दो साल से लुकता-छिपता भागता फिर रहा है सो क्यों ? क्यों नहीं करता जाकर उस वकील का सामना जो तेरे प्राण ले लेना चाहता है ? या फिर अपराध स्वीकार करके क्यों नहीं भोगता कारावास का दण्ड ?

तभी उसने देखा कि वह डिसपैन्सरी के फाटक तक आ पहुंचा है। ऊपर पहुंचा तो देखा कि जल्दी में वह कमरा खुला ही छोड़ गया था। आगे बढ़ा तो देहरी में सिसकती झीनी को औंधा पड़े देखा।

उसे उस तरह वहां पड़े-पड़े सिसकते देखा तो पिछले दिन की एक बात याद हो आई। सोचने लगा—उस दिन झीनी के रोने की बात को लेकर रामी ने आकर इसी कमरे में कितनी खरी-खोटी सुनाई थीं। मुझे 'अन्धा' कहते भी नहीं हिचकी थी सो उसी झीनी को रोता-हिचकता छोड़कर क्यों चली गई ? ऐसा कौन-सा दुःख था कि जिसे किसी भी तरह सह ही न पाई ?

उसने चाहा कि उस झीनी के कंधे पकड़ कर उसे उठाले। शान्त

रहने के लिए समझाये बुझाये पर संकोच के मारे वह वैसा कर नहीं पाया।

बिछौने पर बैठा खिन्न चित्त उसकी ओर देखे जा रहा था। तभी उसने देखा—

हाथों का सहारा लिये झीनी धीरे-धीरे उठ रही है। उसका जूड़ा खुल गया है और वाल विखर गये हैं। खिड़की से आती सुनहली किरणों के प्रकाश में, काली लटों के वीच, आँसुओं से गीले झीनी के उस त्रस्त पीले मुंह को देखकर उसे लगा जैसे झीमते नवनील कुंज में फूले सित सरोज की पंखुड़ियों पर, किसी ने पीला पराग लेप दिया है।

आज तक झीनी कभी इस तरह उसके सामने नहीं आई। सदा लुकती छिपती ही रही है। आज झीनी के उस रूप को देखकर वह अपना उतना वड़ा दुःख भी थोड़ी देर के लिए भूल गया।

तभी उसने देखा पराग के लेप से पीली हुई पंखुड़ियों पर ऊषा की सिंदूरी आभा दीप्त हो उठी है।

क्रोध के मारे उसका पीला चेहरा इंगुरी हो उठा था। एक हाथ से अपनी लटों को एक ओर हटाती कांपते कंठ से बोली—

"क्यों आये आप इस मुहल्ले में ? क्यों आपने मेरी दीदी को····।"

अचानक लम्बी हिचकी आ गई। जिससे वात वीच ही में टूट गई फिर वह कुछ भी न वोल पाई।

उसका ध्यान झीनी की ठोड़ी पर गया। उसकी ठोड़ी पर ओठों के नीचे एक छोटा-सा तिल है। मारे क्रोध के उसके होठ बार-वार कांप उठते हैं और उसी के साथ पीली खिची चिबुक पर चमकता वह काला तिल भी हिल उठता है।

वह मोहाछन्न-सा झीनी के उस रूप को देखता ही रह गया।

सहसा उसे लगा जैसे मसान में अपने किसी आत्मीय की जलती चिता के पास खड़ा, वह चाँदनी के रूप पर रीझ उठा है।

मारे आत्मग्लानि के उसका सिर झुक गया। कुछ देर वह वैसा

ही बैठा रहा और जब सिर उठाकर उस देहरी की ओर देखा तो जाना कि वह देहरी सूनी पड़ी है और झीनी वहाँ से उठकर चली गई है।

उसे लगा जैसे थोड़ी देर पहिले अचानक उसकी देहरी में सिंदूरी आलोक की किरण फूटी—फिर सरोवर की मन्द-मन्द लहराती लहरों के बीच किसी सद्य-विकसित कमलिनी पर अचानक पाला पड़ गया और उन मुरझाईं पंखुड़ियों से धीरे-धीरे ओस की बूंदें ढुलकने लगीं।

फिर सहसा न जाने किस दिशा से क्रुद्ध फुफकारता अन्धड़ आया और सब कुछ अपने साथ समेटकर ले गया।

कुछ देर स्तब्ध-सा बैठा-बैठा उस सूनी देहरी की ओर देखता रहा। सोचने लगा—क्यों आई थी ? क्या अपने इस महाक्लेश का कारण वह मुझे ही मानती है?

तभी उसने देखा कि कागज का एक पुर्जा देहरी में एक ओर पड़ा है। सोचने लगा—शायद झीनी ही जानबूझकर उसे अपने पीछे छोड़कर चली गई है। क्या इसी को देने आई थी? क्या है?

उसने उठकर उस कागज को उठा लिया। जाने से पूर्व रामी ही उस पत्र को लिख गई थी—वहीं खड़ा-खड़ा साँस रोके पढ़ने लगा—

मेरी प्यारी झीनी!

आज तुझे छोड़कर बहुत दूर चली जाऊँगी। क्यों जा रही हूँ सो तो मैं भी नहीं जानती। बस, इतना जानती हूँ कि अब थोड़े दिन और यहाँ ठहरी तो पागल हो जाऊँगी। मैं रह पाती तो जरूर रह जाती, पर अब नहीं—

झीनी! क्या सोचा था और क्या होगया? पिछले चार साल से तेरे ब्याह के लिए रुपये जोड़ रही थी। साढ़े चार सौ के करीब होंगे। तेरे राधा-कृष्ण के मंदिर में जहाँ देवता की मूर्ति है उसी के नीचे जमीन में गढ़े मिल जायेंगे। जब जरूरत हो निकाल लेना।

सोचती थी—तू मास्टरनी बनेगी। कंधे पर बटुआ लटकाये आँखों पर काली ऐनक लगाकर पढ़ाने जायेगी। फिर किसी दिन तेरा ब्याह

रचाऊँगी। तेरे पैरों में अपने हाथ से बिछिया पहिनाऊँगी ; फिर जिधर मेरा मुंह उठेगा चल दूंगी। पर सब मन की मन में रह गई। न तेरी माँग में सुहाग का सिंदूर भर पाई और न तुझे मास्टरनी ही बना पाई।

कौन जानता था कि इतनी जल्दी मुझे घर ही छोड़ देना होगा। पर कल की रात जो दुःख का पहाड़ मेरे, सिर पर आ टूटा था, सो उस उतने बड़े दुःख को भी किसी तरह सहने की कोशिश कर रही थी पर सुबह उठकर जब तुझे देखा सो देखते ही मैं समझ गई कि नहीं—अब नहीं—झीनी! तू सच मानना मैं पागल होगई हूँ।

तू दुःखी मत होना। मैं किसी से नाराज़ होकर नहीं जा रही हूँ। मैं पागल होने से बहुत डरती हूँ। शायद उसी से डर कर भागी जा रही हूँ।

तू कहती थी कि अब छोटी नहीं रही है। सब समझती है। सो किसी तरह सह लेना मेरी रानी! तुझे ऐसे छोड़कर जाते मेरी छाती फटी जा रही है पर जानती हूँ कि अब यहाँ रह भी नहीं पाऊँगी।

अच्छा, रानी! अब चलती हूँ। डाक्टर बाबू को मेरा पैर छूना कह देना।

—तेरी दिदिया

पढ़ते-पढ़ते उसे लगता था जैसे चिट्ठी के सारे अक्षर बार-बार कीड़े-मकोड़ों की तरह इधर-उधर बिलबिलाते बिखरने लगते हैं। बार-बार उमड़ते आँसुओं के कारण उसकी दृष्टि धुंधली हो उठती है। जब किसी तरह उस पत्र को पूरा पढ़ लिया तो आँखें बन्द किये बिछौन पर आ लेटा।

रामी के साथ बिताई रात की एक-एक बात उसे याद आने लगी—

स्नेह में स्निग्ध, रस से भरी लीला विलास से चंचल आँखें, मद में डूबी रामी की अलसाई झपकती घनी पलकें, उसे रह-रहकर याद आने लगी।

सोचने लगा—इतनी बड़ी लांछना को चुपचाप ओढ़कर क्यों चली

गई? प्रतिवाद में एक शब्द भी तो नहीं कहा—उल्टा "पैर छूना" लिखकर चली गई है।

चिट्ठी में लिखा है कि रात के समय जो दुःख का पहाड़ सिर पर आ टूटा था, सो उसे किसी तरह सह भी लेती, पर सुबह उठकर जो देखा, सो किसी भी तरह नहीं सह पाई। क्या देखा होगा सुबह उठकर? क्या? क्या झीनी से रूठकर गई है? लेकिन क्यों?

वह किसी भी तरह समझ ही नहीं पाता कि रामी के अथाह स्नेह और ममता के उमड़ते पारावार में ऐसे प्रचंड विराग की वडवानल कहाँ छिपी बैठी थी जिसे लेकर वह अचानक घर छोड़कर चली गई है?

तभी कोने में पड़े अपने कपड़े-लत्ते उठाकर कमरे से बाहर जाते समय का वह निरुपाय रामी का व्यथित चेहरा उसे याद हो आया। उसे लगा जैसे उसकी पसलियों को कँपाती रुलाई की लहर आ-आकर उसके कंठ को छू-छूकर लौट जाती है।

Roof Shali
1st T.D.C
A.S. college

१५

उस दिन जब झीनी हाथ में किताबें दबाये शाम को स्कूल में अपने सालाना जल्से के कारण देर से लौटने की बात कहकर चली गई थी, तो रामी दालान में दरी बिछाकर चुपचाप लेट गई। उसने बहुत चाहा कि डिस्पेन्सरी जाकर अपना काम-काज करे; पर किसी भी तरह न जा पाई।

दालान में लेटी-लेटी मन को समझाने लगी—समय बीतते-बीतते सब सह लेगी। कितनी बार विधवा का इकलौता बेटा मरते देखा गया है, तो क्या वह प्राण त्याग देती है?

सुहाग रात के दिन जिस सुहागिन को अपने स्वामी के स्वर्गवासी होने की खबर मिलती है, सो क्या घर छोड़कर भाग जाती हैं?

सब ठीक हो जायेगा। जिन्दगी में कैसे-कैसे दुःख, कैसे-कैसे क्लेश सहे हैं, सो क्या इसे नहीं सह पाऊँगी?

सहसा उसे ध्यान आया—और झीनी के मन में जो बात जागी है सो? यह ध्यान आते ही उसे झीनी की कितनी ही पिछली बातें याद हो आयीं—

डाक्टर बाबू ने खाना नहीं खाया था, तो कितनी रोई थी? जबलपुर चले गये थे तो उन्हें वापस बुलाने के लिये घंटों प्रार्थना करती देवता के चरणों में पड़ी रहती थी।

पिछली रात में थोड़ी देर तक उनके साथ रह गई, तो कैसे जल-

मरी थी। लालटेन के सामने किताब खोले कैसे डाह के मारे मुंह फुलाये बैठी थी—जलमुंही कहीं की। यह ध्यान आते ही झीनी के प्रति उसका प्यार; उसकी ममता उमड़-उमड़कर आँखों की राह बरस पड़ी।

रोती-रोती सोचने लगी—

अनजाने ही कितना बड़ा पाप किये जा रही थी। क्यों उसके सामने पहाड़ी बनकर आखड़ी हुई थी? भगवान्! तुमने बचा लिया। सोचते-सोचते उसी अन्तर्यामी को उद्देश्य करके उसने धरती पर माथा टेक दिया, और साथ ही राजेन्द्र ने जो कुछ बुरा-भला उससे कहा था उसके लिए रह-रहकर उसका मन राजेन्द्र के प्रति कृतज्ञता से भर उठा।

उस कृतज्ञता से भरे उसके मन में सहसा न जाने किस ओर से आत्मग्लानि की एक छोटी-सी बदली उठी और धीरे-धीरे उसके समस्त हृदयाकाश पर घुमड़ती घटाटोप की तरह छा गयी।

दालान में बिछी उस फटी दरी पर पड़ी-पड़ी सोचने लगी—

जिन्हें उसने मन प्राण से केवल प्यार ही नहीं किया था, बल्कि मन ही मन जिनका वरण भी कर लिया था, सो उन्हीं ने तो कहा था—

"रामी! तुम्हारा यह शरीर पाप से बना है और आज तक पाप के अन्न से ही पलता आया है। रामी! मैं तुमसे घृणा करता हूँ। उस हवा से भी जो तुम्हें छू-छूकर आरही है।"

यह याद आते ही पाप से बने और पाप के अन्न से ही पले अपने उस शरीर को बनाये रखना असह्य हो उठा। एक-एक पल काटना उसे दूभर हो उठा।

सोचने लगी—अपने इस पापी शरीर की छाया अपनी झीनी पर नहीं पड़ने दूंगी। नहीं तो एक दिन मेरी तरह उसका भी सब कुछ छिन जायेगा। नहीं—मैं ऐसा कभी नहीं होने दूंगी। ध्यान आया—क्यों न जाकर कहीं नदी पोखर में डूब मरूँ, इस शरीर का अन्त कर डालूं।

तभी उसके भीतर से ही कोई पुकार उठा—

लेकिन रामी! तेरे इस तरह डूब मरने से क्या होगा? तेरी जैसी

सब आज तक यही तो करती आई हैं। इससे उनका क्या बिगड़ा जो एक दिन अपनी बदनामी के डर से तेरी मां को ले जाकर काशी छोड़ आये थे? उनकी नाक तो आज भी ऊँची है। मरना ही है तो मर जा। पर मरने से पहिले उस गांव में जाकर हिन्दुओं में सिरमौर उन ब्राह्मणों की नाक तो काट आ।

तभी आंगन में धूप सेकती अपनी अम्मा उसे दिखलाई पड़ी।

उसे देखते ही उसका खून खौल उठा। इसी मां ने कैसे-कैसे चीमटे करछुलियों से पीट-पीटकर उस राक्षस को जबरदस्ती 'बापू' कहलाया था।

ओ मां! तू मुझे जन्म देने से पहिले मर क्यों नहीं गई? क्यों दिन रात यह कलेश सहने के लिए पाल-पोसकर बड़ा किया था? क्यों? क्यों?

धीरे-धीरे रामी के चेहरे पर ऐसा हिंसक भाव जाग उठा कि उस समय रामी के उस चेहरे को देखकर कोई भी मारे डर के चीख पड़ता।

उसे अपने रोम-रोम से उठती एक हिंसक क्रुद्ध पुकार उठती सुनाई पड़ने लगी—

मां! तूने मुझे जन्म देकर दुनिया के इस घिनौने नरक म ढकेल दिया और मैं तुझे मौत देकर संसार से आज छुटकारा दे देती हूं। कितना क्लेश दिया है तूने मुझे?

वह क्रोध में कांपती खड़ी होगई और इधर उधर कुछ खोजने लगी। सोचने लगी—कहीं चाकू छुरी मिल जाये तो—मां की गर्दन में एक बार—हल्की-सी चीख और बस।

पर यह निगोड़ी झीनी चाकू कहां रख गई है? झीनी का ध्यान आते ही सोचने लगी—'हत्यारी की बहिन' कहकर डाक्टर बाबू ने मेरी झीनी को भी दुत्कार दिया तो? और वही 'तो' उसके सामने पहाड़ बनकर आ खड़ा हुआ।

× × ×

हत्या के वे क्षण!

जिसमें सहज ही कोई किसी की गर्दन मरोड़कर प्राण खींच लेता

है। चाकू छुरी भोंककर सारी अन्तड़ियाँ बिखेर देता है।

सो वही हत्या के क्षण! बीत गये। और रामी मातृ-वध के घोर पाप से बच गई।

वह लड़खड़ाती-सी दालान में पड़ी अपनी उसी दरी पर जा लेटी। उसे लगा जैसे वह पागल हो गई है।

हाय रे मनुष्य के मन! तू काहे से बनता है—काहे से टूट जाता है, सो कोई नहीं पाता। कब तू किसी के दिल में प्रेम-प्रीत का पारावार लहरा दे और कब कहाँ हिंसा घृणा और प्रतिशोध के शत्-शत् ज्वालामुखी सुलगा दे, इसका भी कोई ठिकाना है?

रामी समझ नहीं पाती कि हिंसा, घृणा और प्रतिशोध के इन धधकते ज्वालामुखियों को कैसे शान्त कर पाये?

वह बार-बार गहरी उसासें छोड़ती छटपटाने लगती है। रह-रहकर अपने ही हाथों से अपने बाल नोंच उठती है।

धीरे-धीरे उसका पीला चेहरा सफेद पड़ता गया और पुतलियाँ पलट गईं। उसकी गर्दन मुड़ गई और सिर धीरे-से एक ओर को लुढ़ककर स्थिर होगया। थोड़ी ही देर में सारा शरीर ज़ोर-ज़ोर से काँपने लगा और मुंह से फैन के बुलबुले निकल-निकलकर बाहर की ओर आने लगे।

Dear, [illegible]

[illegible]

Bushan Lal Drabiyar, 2nd Bridge, Srinagar.

१६

रामी को गये आज लगभग डेढ़ महीना होने आया है। राजेन्द्र ने अखबारों में उसकी खबर छपवाई, जहाँ-तहाँ भाग-दौड़कर खोज की। आस-पास के सारे गाँव छान डाले पर रामी का कहीं पता न चला।

किसी-किसी मनुष्य का स्वभाव ऐसा होता है कि कल्पित सन्देह और मिथ्या धारणाओं को ले-लेकर अपने चारों ओर दुःख और पीड़ा का ऐसा जाल बुन लेता है कि फिर प्रयत्न करने पर भी उसे नहीं तोड़ पाता। जीवन भर उसी में पड़ा-पड़ा छटपटा-छटपटाकर अपने प्राण दे देता है।

राजेन्द्र ने भी अपने इसी स्वभाव के कारण जीवन में अपने साथ-साथ दूसरों को भी कई बार संकट में डाल दिया है।

रामी के जाने के बाद लगता है कि राजेन्द्र अपने इस विचित्र स्वभाव को थोड़ा बहुत पहिचानने लगा है। इसीलिए उसका आन्तरिक क्लेश और भी अधिक बढ़ गया है।

उसके इस स्वभाव के कारण रामी के साथ जो कुछ घट गया है सो वह एक क्षण को भी नहीं भूल पाता। न जाने कैसी निदारुण ग्लानि के मारे सूख-सूखकर काँटा होगया है।

जिस झीनी को रामी मन प्राण से प्यार करती थी उसी के लिए

मन ही मन आजकल बरसाती नदी की भाँति प्यार उमड़-उमड़ पड़ता है पर कैसे भी झीनी के पास पहुँच नहीं पाता।

रामी के घर छोड़कर चले जाने के बाद वह झीनी के घर उसके सुख-दुःख की बात पूछने कई बार गया पर झीनी का अति विपरीत रुख देखकर वह आना-जाना किसी भी तरह आगे नहीं बढ़ पाया।

झीनी को निकट से देखे लगभग सवा महीना बीत गया है पर तो भी उसे लगता है जैसे दूर बैठा भी वह उस के हृदय में धड़कती एक-एक धड़कन को सुन लेता है।

राधाकृष्ण के सामने बैठकर गाये गये झीनी के भजन-गीत सुनकर ही वह रोज सुबह उठता है और साँझ की आरती के बाद झीनी की उस झोपड़ी को देखता-देखता ही सो जाता है।

राजेन्द्र समझता था कि किसी का चेहरा मात्र देखकर वह उसे भली-भाँति पहिचान लेता है। पर वैसा अभिमान अब नहीं करता। रामी उस अभिमान को सदा-सदा के लिए तोड़कर चली गई है और जो शेष बचा था, सो उस दिन झीनी ने टूक-टूक कर डाला।

वह समझता था कि झीनी राग-रागिनी गाते समय ली जाने वाली मुरकी-सी मीठी और छुईमुई-सी लजवन्ती है; किन्तु एक रात के विचित्र अनुभव के बाद उसे अपनी राय तुरन्त बदल लेनी पड़ी।

उस रात उसने अच्छी तरह समझ लिया कि कुसुमकली-सी कोमल और 'मुरकी'-सी मीठी होकर भी झीनी पत्थर-सी कठोर और सिंहनी-सी भयंकर है।

× × ×

रात के नौ बजे होंगे। दिन भर पानी बरसता रहा सो अचानक जाड़ा बढ़ गया था। राजेन्द्र कम्बल ओढ़े चुपचाप चारपाई पर लेटा था। पास ही मेज पर लालटेन जल रही थी।

न जाने क्यों आज उसे रह-रहकर वह घटना याद हो आती है कि जिसे देखकर उसे झीनी के बारे में अपना विचार बदल लेना पड़ा।

× × ×

बात यह हुई थी कि गंगासागर बस्ती से मीलेक दूर एक स्थान पर टैक्ट विशारद डाक्टर की फार्मेसी के नये भवन का शिलान्यास समारोह मनाया गया था।

उस दिन के विशिष्ट अतिथि फार्मेसी के प्रच्छन्न साझेदार कांग्रेसी मंत्री के सम्मान में स्वागत गीत गाने के लिये झीनी के स्कूल की कुछ लड़कियाँ भी वहाँ पहुँची थीं। जब वह समारोह समाप्त हुआ तो रात के दस बज चुके थे।

सभा में काम आने वाली मेज़ कुर्सियों को लादे राजेन्द्र एक ताँगे से वापस लौट रहा था। उसी के आगे एक दूसरा ताँगा भी जा रहा था। दोनों ताँगों के बीच थोड़ा-सा फासिला था।

सहसा दो लड़के तेज़ी से साइकिल दौड़ाते आये और दोनों ताँगों के बीच में साइकिलें चलाने लगे।

उनमें से एक लड़का अपनी साइकिल की घंटी बजाकर बोला—

"सुनता है रे मोहन! कैसी मीठी बोलती है। कसम खुदा की, मैं तो आवाज़ सुनकर ही मर गया।"

राजेन्द्र ने बोलने वाले की आवाज़ पहिचान ली। बोलने वाले का नाम गफूर है। वह उसी कस्बे के मुसलमान जागीरदार का आवारा नवाबज़ादा है। चौबीस-पच्चीस बरस का हट्टा-कट्टा नौजवान है। कहीं बाहर शहर में पढ़ता है। कुछ दिनों के लिये छुट्टियाँ बिताने गाँव आगया है। कई बार डिस्पेन्सरी में ताकत की दवा लेने आचुका है। इसीलिए राजेन्द्र उसे पहिचानता है।

राजेन्द्र ने जीवन मे कई बार ऐसे लोगों द्वारा स्त्रियों को छेड़ते देखा-सुना है और कई बार ऐसी बातों को न सह पाकर मार-पिटाई भी की है; किन्तु न जाने क्यों अब उस ओर उसका ध्यान नहीं जाता।

आजकल उसे लगता है कि इस दुनियाँ में रहकर भी नहीं रह रहा है। जैसे तटस्थ दर्शक-मात्र हो। सभी तरह की अच्छाइयों-बुराइयों से निर्लिप्त! जैसे उसका अस्तित्व ही मिट गया हो।

तभी उसके कानों ने सुना। दूसरा साथी बोल रहा था—

"देख भाई, तेरी घंटी है जब जी चाहे बजाकर सुन लिया कर, लेकिन इन बुलबुलों की चहक क्या रोज़ सुनने को मिलती है ? क्यों बजाये जा रहा है बार-बार घंटी ?"

तभी उस तांगे में से कोई बोला। आवाज़ किसी लड़की की थी। वह बोली—

"तुम्हारे क्या मां-बहिनें नहीं हैं?"

"हैं तो जी पर घर छोड़ आया हूं। उन्हें नाचना गाना बिल्कुल नहीं आता।"

"बदत्तमीज़ कहीं के !"

ग़फ़ूर खांसकर बोला—

"अरे भाई ! यही अदा तो बन्दे को मार डालती है।"

तभी किसी वृद्ध नारी का कर्कश कण्ठस्वर सुनाई दिया—

"मना करती हूं पर मानती नहीं। क्यों मुंह लगी जा रही है ? नवाब साहब का लड़का है।"

"नवाब का छोड़ भगवान् का भी हो तो भी मैं······· अरे तांगे वाले देना तो अपना चाबुक······· ।"

"अल्लाह ! यह तो चाबुक मांगती है। लगता है बचपन में घोड़े हांकती रही है। मैं समझा खानदानी है। चल रे भाई चल!" कहते-कहते वे अपनी-अपनी साइकिल को मोड़कर आगे बढ़ने लगे।

दूर चलते तांगे की खड़-खड़ में उस लड़की की आवाज़ पहिचान नहीं पाया था जैसे ही उसने जाना कि वह झीनी बोल रही है। सो सुनते ही उसका वह तटस्थ और निर्लिप्त भाव न जाने कहां छिन्न-भिन्न हो गया। वह सन्निपात के रोगी की भांति तांगे वाले को एक ओर ठेलकर चलते तांगे से कूद पड़ा।

तांगे से नीचे उतरते ही उसने देखा कि उसका वह घाती वाला हिन्दू साथी साइकिल छोड़कर भाग गया है और गफ़ूर दोनों साइकिलों

के बीच उलझा औंधे मुंह सड़क पर पड़ा है। ऊपर से झीनी सपासप चाबुक मारे जा रही है।

गफूर कोड़े बचाता उन साइकिलों को एक ओर ठेलकर घोड़े के पैरों से कुचलता वहाँ से भाग निकला।

गफूर के भाग जाने पर हाथ में कोड़ा थामे पैर पटकती झीनी को देखकर राजेन्द्र का मन अभिमान से भर उठा। पर साथ ही मन ही मन उसके स्वभाव के बारे में तुरन्त ही अपनी राय भी बदल लेनी पड़ी।

× × ×

जाड़े की उस रात में बिछौने पर लेटा उस दिन की घटना को याद करते-करते सोचने लगा—

रामी ने बताया था कि उन दोनों के पिता किसी रियासत के महाराजा हैं। याद आते ही विचार आया—

ऐसी रखैल माँ की सन्तानों के आत्म-पीड़न का भी कोई ठिकाना है कि जिनकी नसों में किसी क्षत्रिय का खून दौड़ रहा हो, जिनका बचपन राजमहलों की आनवान में बीता हो और बड़े होने पर दास-दासी का 'छी-छी' भरा लज्जाजनक जीवन बिताना पड़ता हो।

सोचते-सोचते उस झीनी से बात करने के लिए राजेन्द्र का मन आकुल हो उठा। तभी उसके कानों को किसी का काँपता कण्ठस्वर सुनाई पड़ा—

"डाक्टर बाबू!"

कहती-कहती झीनी उसी देहरी पर आ खड़ी हुई जहाँ बैठकर किसी दिन निःशब्द रोती रही थी।

राजेन्द्र ने देखा—उसके हाथों में कई किताबे हैं। आज उसने वही धानी रंग की साड़ी पहिन रक्खी है जिसमें उसने पहिले पहल देखा था।

वह बिछौने से उठकर बोला—

"आओ झीनी! आओ बैठो!!"

वह चुपचाप आकर बिछौनेके पाँयती की ओर पैर लटकाकर बैठ गई।

राजेन्द्र उसकी ओर कम्बल सरकाता बोला—"आज बहुत जाड़ा है। पैर समेट कर अच्छी तरह कम्बल ओढ़ लो।"

"आप उसकी चिन्ता मत करिये, मुझे जाड़ा नहीं लगता। धन्यवाद!"

राजेन्द्र एक बार आँखें भरकर झीनी को देख लेना चाहता है पर जिस रुखाई से उसने अभी-अभी 'धन्यवाद' दिया है, सो सुनकर वह सिर झुकाये ही बैठा रहा। तभी वह बोली—

"सुनिये डाक्टर बाबू!"

अचानक उसकी आँखें झीनी के चेहरे की ओर उठ गईं। झीनी का वह रक्त-शून्य विवर्ण चेहरा देखकर उसे रुलाई आगई। दांतों से दांत भींचकर अपने को सम्भालता बोला—

"कहिये!"

"आज मैं एक जरूरी काम से आपके पास आई हूँ। मेरी परीक्षा के दो महीने बाकी हैं। अगर यूनिवर्सिटी में फर्स्ट क्लास फर्स्ट आ जाऊँ तो स्कॉलरशिप मिल सकती है।"

"लेकिन इसमें मैं क्या मदद कर सकता हूँ। मैं तो उतना पढ़ा-लिखा भी नहीं हूँ। कौन-कौन से विषय कमज़ोर हैं।"

"कमजोर तो कोई भी विषय नहीं है, पर हिन्दी और इतिहास में आप से मदद लेना चाहती हूँ।"

"लेकिन झीनी ! मैं तो स्वयं भी अभी तक इस परीक्षा को पार नहीं कर पाया हूँ सो.......।"

"सो मैं जानती हूँ। लेकिन यह भी जानती हूँ कि मैट्रिक छोड़ बी० ए० के विद्यार्थी को भी आप इन दोनों विषयों को भली-भाँति पढ़ा सकते हैं।"

वह हँस कर लजाता-सा बोला—

"यह तुमसे किसने कहा ?"

"हमारी मिस चौहान ने ?"

"मिस चौहान ? मैं तो उन्हें नहीं जानता।"

"आपकी डिस्पैन्सरी से कभी-कभी खाँसी की दवा ले जाती हैं।"

सुनकर राजेन्द्र को याद हो आया। एक दिन डाक्टर बाबू जल्दी ही डिस्पैन्सरी से चले गये थे। तब किसी महिला से सन्त-साहित्य और भारतीय-संस्कृति पर बहस छिड़ गई थी। राजेन्द्र कुछ सोचता-सोचता बोला—

"अच्छा तो वही है तुम्हारी मिस चौहान ? उम्र तो छोटी है पर लगता है उन्होंने पढ़ा-लिखा बहुत है।" कहता-कहता वह चुप हो गया फिर बोला—

"पढ़ाने का समय कौन-सा रहेगा ? सुबह होते तो काम पर चला जाता हूँ। सो जा कर रात के नौ बजे फुरसत मिल पाती है।"

"नौ के बाद ही सही।"

"अच्छा, तो कल से आ जाया करना।"

"फिर मैं चलती हूँ।" कहती-कहती वह उठ खड़ी हुई।

मेज पर लिफाफे में भइया की एक चिट्ठी पड़ी थी। उसको लौटती-पलटती बोली—

"यह कहाँ से आई ?"

"भइया की है। उन्होंने अब खेती का काम छोड़ दिया है। संस्कृत के आचार्य होकर काशी जा रहे हैं। लिखा है वहाँ पहुँचने से पहिले एक बार इधर भी आयेंगे।"

"अच्छा है, मैं भी दर्शन कर लूंगी।" कहते-कहते वह जाने लगी।

तभी राजेन्द्र बोला—

"झीनी !"

"जी !"

"लगता है तुम बहुत नाराज हो ?"

"नहीं तो।"

मैंने कहा—'कम्बल ओढ़कर अच्छी तरह बैठ जाओ' तो कितनी रुखाई से तुमने जवाब दिया था 'आप उसकी चिन्ता मत करिये।'

सुनकर वह वहीं पांयती ओर बैठ गई। फिर खिड़की से बाहर आकाश की ओर देखती-देखती गम्भीर होकर बोली—

"डाक्टर बाबू, दिन-रात मेरी चिन्ता करने वाली, मेरी माँ, बहिन, सहेली, जो मेरी सब कुछ थी; सो जब वही मेरी चिन्ता छोड़कर चली गई तो अब किसी का सहारा लेते डर लगता है। मैं नहीं चाहती कोई मेरी तनिक भी चिन्ता करे।' कहते-कहते उसका कंठ भर आया।

सुनकर राजेन्द्र मुंह बाये झीनी की ओर देखता ही देखता रह गया।

"क्या हुआ डाक्टर बाबू ? आपको सुनकर अचरज क्यों हो रहा है?"

"सोचता हूँ अपनी दिदिया के जाने के बाद इस डेढ़ महीने ही में तुम कितना क्या बदल गई हो। लगता है अब तुम बच्ची बिलकुल नहीं रही हो।"

"डाक्टर बाबू, पिछले दिनों मैंने टालस्टाय की एक कहानी पढ़ी थी। मारे दुःख के कहानी में किसी पात्र के एक ही रात में सारे बाल सफेद पड़ गये थे। सो यदि डेढ़ महीनों में मैं अपना बचपन खो बैठूं तो इसमें अचरज की क्या बात है ?"

तो स्कूल की किताबों से अलग भी तुम बहुत लिखती-पढ़ती रहती हो।"

उस खिड़की की ओर देखती-देखती बोली—

"कहाँ ? पढ़ने के लिए किताबें भी तो नहीं मिलतीं। सुनती हूँ जबलपुर में कोई बहुत बड़ी लाइब्रेरी है। मैं उसकी मेम्बर बनना चाहती हूँ। आप तो वहाँ आते जाते ही रहते हैं। कभी वहाँ जायें तो............।"

कहते-कहते उसे न जाने ऐसा क्या याद हो आया कि सहसा उसकी आंखें छलछला आईं। कुछ देर वह उस खिड़की की ओर आंसुओं से धुई धुन्धली दृष्टि से देखती रही फिर चुपचाप उठकर जाने लगी।

तभी राजेन्द्र बोला—

"इतिहास की अपनी किताब लाई हो तो छोड़ती जाओ। कल दिन में देख लूंगा।"

झीनी जाते-जाते रुक गई। उसने किताबों के बीच से इतिहास की पोथी निकाल कर बिछौने पर रखदी। फिर दबी उसांस छोड़ती चली गई।

Roop Shali
Ist. T.D.C
2.1.1968

नियति

ओ संसृति की आदि छलना ! मनुष्य के जीवन-पट पर धुँधली छाया की भाँति छा जाने वाली नियति ! तुम कौन हो ?

कभी दुःख की घनी काली बदली में बिजली की भाँति मुस्करा उठती हो। और कभी आनन्द के उमड़ते सिन्धु में बाड़व-ज्वाला सी आलोड़ित हो उठती हो !!

Comments:

The reading pains a little but on the other hand acts as advice,

Ramesh Razda

१७

आज भी सारे दिन पानी बरसता रहा है। रात के नौ बजे हैं। लगता है कि ऐसा जाड़ा पिछले कई सालों से नहीं पड़ा है। किसी भी तरह अंगुलियां सीधी नहीं होतीं। बार-बार बतीसी बज उठती है।

राजेन्द्र चारों ओर से रजाई कम्बल ओढ़े लेटा-लेटा सोचने लगा—कल रात को नौ बजे आने के लिए कह गई थी लेकिन इतने जाड़े में क्या आ पायेगी ?

ठंड के मारे कांपती अंगुलियां कम्बल के बाहर निकालकर लालटेन की बत्ती बुझाने के लिये मेज की ओर हाथ बढ़ाया तभी झीनी उसी देहरी पर आ खड़ी हुई ! कांपते कण्ठ से बोली—

"आ जाऊं ?"

"आओ झीनी आओ ! मैं तो सोच रहा था कि इतने जाड़े में............।"

"अच्छा तब आज रहने दीजिये डाक्टर बाबू ! कल से शुरू करूंगी।"

जिस जाड़े के मारे कम्बल से बाहर हाथ नहीं निकला जाता था सो झीनी को देखते ही न जाने कहां वह जाड़ा तिरोहित हो गया। वह चटपट उठकर सीधा बैठता-बैठता बोला—

"अच्छी तरह ओढ़ कर यहां बैठ जाओ।"

झीनी पांयती ओर पैर लटका कर बैठ गयी। राजेन्द्र क्षुब्ध हो उठा। झुंझलाता-सा बोला—

"कितना जाड़ा है। कम्बल नहीं ग्रोढ़ती तो पैर समेट कर तो बैठ जाग्रो।"

सुनकर दवी हँसी के मारे वह ठोढ़ी का तिल बार-बार चमकता-कांपने लगा। दिदिया के जाने के बाद शायद वह ग्राज पहिली बार ही हँसी थी।

उसे इस तरह विना बात के हँसता देख राजेन्द्र ग्रप्रतिभ-सा हो उठा। धीरे-से बोला—"झीनी! क्या हुग्रा?"

"राजेन्द्र वाबू! ग्राप को गुस्सा ग्रा रहा है पर मैं क्या करूँ? मैं पैर समेट कर बैठ तो जाऊँ पर इतनी रात गये जाड़े में ग्राप की इस चादर को कहाँ धोती फिरूँगी?" कहते-कहते झीनी फिर हंस पड़ी।

तभी राजेन्द्र ने उसके पैरों की ग्रोर देखा। कीचड़ में बुरी तरह सन गये थे।

ऐसे जाड़े में कीचड़ में सने झीनी के पैरों को देखकर उसका मन उदास हो उठा। ध्यान ग्राया—कभी यही पैर किसी राजमहल में मखमली रजाइयों में दबाकर रक्खे जाते होंगे ग्रौर ग्राज............।

बीच ही में झीनी बोली—

"किस सोच में पड़ गये डाक्टर बाबू! चलिये थोड़ा सा पानी दे दीजिये। पैर धोकर ग्रच्छी तरह से बैठ जाऊँगी।"

राजेन्द्र ने कमरे से बाहर जाकर उसके पैरों पर पानी डाल दिया। वह पैर धोकर एक हाथ से धोती समेटती पंजों के बल चलती कमरे में ग्रा खड़ी हुई। राजेन्द्र ने एक पुरानी चादर उसकी ग्रोर बढ़ा दी।

वह चादर से ग्रच्छी तरह पैर पोंछ कर बिछौने पर ग्रा बैठी। फिर सकुचाते-सकुचाते कम्बल का एक छोर खींच कर घोंटुग्रों तक पैर ढंकती चुपचाप बैठ गई।

राजेन्द्र धीरे से बोला—"झीनी! ग्रच्छी तरह ग्रोढ़कर क्यों नहीं बैठती?"

"डाक्टर बाबू ! अच्छी तरह ओढ़कर बैठने तो आई नहीं हूँ, सो.........।"

कहते-कहते झीनी लजा गई। राजेन्द्र ने फिर कुछ नहीं कहा पर न जाने क्यों अन्दर ही अन्दर उसका मन विरक्त हो उठा।

उसने आज का पाठ पहिले से ही तय्यार कर रक्खा था। इतिहास की किताब तो उसके पास थी ही, सो पाठ तय्यार करते उसे कुछ भी कठिनाई नहीं हुई।

राजेन्द्र ने भारत में वैदिक काल से लेकर महाभारत काल तक का राजनैतिक सामाजिक और आर्थिक दशा का जितने रोचक ढंग से उसकी आँखों के सामने चित्र खींच दिया सो देखकर उसके प्राण उसी युग में जा पहुँचे। वह मन्त्रमुग्ध-सी राजेन्द्र की ओर निहारने लगी।

वे गुरु शिष्य उस सिखाने-सीखने में ऐसे डूबे कि कितनी रात बीत चुकी है इसका पता ही न चला। जब कोतवाली में बारह का घंटा बजा, सो सुनकर लगा जैसे झीनी सोते से जाग पड़ी है।

बोली—"हायराम ! बारह बज गये ? अब मैं जाती हूँ ?" कहती-कहती कम्बल एक ओर रखती बिछौने से उतर कर धरती पर जा खड़ी हुई।

आज जाते-जाते झीनी रुक गई। सिर झुकाकर 'नमस्कार' किया फिर चुपचाप चली गई।

× × ×

दूसरी रात आते-आते झीनी को देर हो गई थी। पिछले कई दिनों से पानी बरस जाता है। इसलिए सारी लकड़ियाँ गीली हो गई थीं। किसी भी तरह चूल्हा ही नहीं जलता रहा था। जैसे-तैसे अम्मा के लिये दो रोटी सेंक कर जब हाथ में किताबें लेकर चलने लगी तो दस का घंटा बज रहा था।

एक बार सोचा—इतनी देर हो गई है न जाऊँ पर पैरों ने सुना नहीं, वे आगे बढ़ चले।

उस रात घना कुहरा पड़ रहा था। ऐसा घना कि अपनी आँखों से अपना ही हाथ तक नहीं सूझ रहा था। वह जैसे-तैसे सँभलती उस कीचड़ भरी गली में धीरे-धीरे बढ़ने लगी। अचानक गली में खड़े किसी जानवर से टकरा कर गिर पड़ी।

हाथों का सहारा लेकर वह उठ कर खड़ी हो गई। थोड़ा-सा आगे बढ़ी फिर सोचने लगी—इतनी देर हो गई है अब पढ़ने जाऊँ या न जाऊँ ?

कभी वह घर की ओर लौटने लगती है कभी पैर डिस्पेंसरी की ओर बढ़ जाते हैं। अन्त में उसने निश्चय किया—जाकर कह तो आऊँ। न जाने कब तक मेरी राह देखते रहेंगे।

झीनी जब राजेन्द्र की देहरी पर पहुँची तो कुछ देर चुपचाप खड़ी रही। राजेन्द्र ने निराश होकर बत्ती बुझा दी थी। वह कम्बल से मुँह ढके चुपचाप लेटा था। सोच रहा था—क्यों नहीं आई ? नाराज हो गई ! पर मैंने तो ऐसा कुछ नहीं कहा था ?' क्यों नहीं आई ?

सहसा झीनी ने काँपते कंठ से कहा—

"डाक्टर बाबू ! आज मैं नहीं आऊँगी।"

सुनकर राजेन्द्र कम्बल रजाई एक ओर करता उठा। बत्ती जलाते-जलाते बोला—"झीनी ! जब आ ही चुकी हो तो कैसे कह रही हो कि मैं नहीं आऊँगी ? दोनों बातें साथ-साथ कैसे चलेंगी ?" कहते-कहते वह हँस पड़ा।

फिर बोला—"द्वार के पास बाहर पानी भरी बाल्टी और लोटा रक्खा है। पैर धोकर अन्दर आ जाओ।"

हाथ पैर धोकर जब झीनी कमरे में लौटी तब तक राजेन्द्र ने लालटेन की बत्ती जला ली थी। उस प्रकाश में उसने झीनी की ओर देखा तो देखता ही रह गया।

राजेन्द्र खड़ा-खड़ा करुणा विगलित अचरज से उसकी ओर देखे जा रहा था तभी झीनी ने अचकचा कर पूछा—"क्यों ? क्या देख रहे हैं ?"

"यह तुम्हें हुआ क्या है ? जरा अपने कपड़ों की ओर तो देखो।"

झीनी अपनी साड़ी को देखकर मारे लाज-शर्म के मुंह छिपाये जहाँ की तहाँ बैठ गई।

कुछ देर कमरे में सन्नाटा रहा। तभी कुछ सोचकर वह बोला—

"झीनी ! उस बक्स में कपड़े रखे हैं किवाड़ और खिड़की बन्द करके कपड़े बदल डालो" कहता-कहता वह किवाड़ फेरता बाहर चला गया। झीनी इसी असमंजस में बैठी थी कि यहाँ कपड़े बदले या उठकर भाग जाय ?

तभी उसने कनखियों से देखा कि किवाड़ बन्द हो गये हैं। तब जाकर उसकी साँस में साँस आई। उठकर उसने अन्दर से कुंडी लगा ली। फिर धीरे से खिड़की भी बन्द कर दी।

बक्स में रखी उस नीली बनारसी साड़ी और रेशमी ब्लाउज को देखकर वह ठिठक गई। बिना नहाये धोये ऐसे कपड़े वह कैसे पहिन ले ? मैले नहीं हो जायेंगे ?

न जाने किसके लिए खरीद कर लाये होंगे। अपनी बहू के लिए ही खरीदे होंगे। तो मैं क्यों पहिनूं ? नहीं—मैं नहीं पहिनूंगी।

तभी बाहर से राजेन्द्र ने पुकारा—"झीनी ! बाहर बरफ पड़ रही है। जल्दी करो !" और झीनी ने हड़बड़ा कर अपनी साड़ी उतार कर एक ओर रख दी। वह पेटीकोट पहिने खड़ी थी। फिर ब्लाउज के बटन खोलने के लिए हाथ बढ़ाया।

तभी बाहर से आवाज आई—

"झीनी !"

आवाज सुनकर वह चिहुक पड़ी—'हायराम !' मारे लाज के वह पानी-पानी हो गई। सोचने लगी—कहीं से कुछ दिख न जाये ?

दौड़ कर लालटेन की ओर पीठ करके कोने में जा खड़ी हुई। सोचने लगी—दरवाजे के छेदों में से कहीं कुछ दीख गया हो तो ? यह ध्यान आते ही उसके रोंगटे खड़े हो गये।

उसने चाहा कि दौड़कर लालटेन की बत्ती धीमी कर दे पर उधर जाये कैसे ? ठीक दरवाजे के सामने मेज पर तो लालटेन रखी है। उधर से तो सीधा दिखता है। अब ?

तभी बाहर से दाँत किट-किटाता राजेन्द्र बोला—

"झीनी, कितनी देर और है।"

सुनकर झीनी काँप गई। बत्ती की ओर पीठ किये उस रेशमी साड़ी को कोने में उठा लाई और जल्दी-जल्दी बाँधने लगी। लेकिन कैसी है यह साड़ी ? बार-बार खिसक क्यों जाती है ?

जैसे-तैसे साड़ी पहिनी। फिर कोने में जाकर लजाते-सकुचाते उसने ब्लाउज बदल लिया। उस रेशमी बनारसी हलकी नीली साड़ी और नीले ब्लाउज को पहिन कर उसने एक बार अपनी ओर देखा तो मारे लाज के मुँह छिपाकर जहाँ की तहाँ बैठ गयी।

राजेन्द्र ने किवाड़ थप थपाकर कहा—"झीनी ! बाहर बहुत जाड़ा है। जल्दी खोलो नहीं तो प्राण बिना गये नहीं बचेंगे।"

हड़बड़ा कर झीनी ने द्वार खोल दिया। और लजाती बिछौने पर आ बैठी। मारे संकोच के उससे सिर नहीं उठाया जाता था।

झीनी को उस तरह वहाँ बैठा देख राजेन्द्र को पिछली एक रात याद हो आयी। सोचने लगा—यही कपड़े पहिनकर यहीं उस रात रामी बैठी थी.........बिन्दी लगाई थी............कान में बुन्दे पहिनाये थे............।"

अपने विगत जीवन की बातें सुनाते-सुनाते वह रो पड़ी थी।........ उसने अपनी ओर खींचा था........फिर उसके कंधे से आकर चिपट गई थी........। सोचते-सोचते उसकी आँखें छलछला आईं।

तभी झीनी ने धीरे-धीरे सिर उठाया और लजाते-सकुचाते राजेन्द्र

की ओर देखा। उसे लगा जैसे वह वहाँ नहीं है। न जाने कैसी शून्य-दृष्टि से देखे जा रहा था।

तभी झीनी ने धीरे से कहा—

"डाक्टर बाबू !"

'हूँ।" कहता-कहता वह काँप गया। झीनी बोली—

"डाक्टर बाबू ! अब बहुत देर हो गई है। आज मीरा के इन पदों का काव्य सौन्दर्य समझा दीजिये। बस !" सुनकर अपने को सँभालता राजेन्द्र बोला—

"हाँ—हाँ क्यों नहीं···हाँ—हाँ पूछो·······कहाँ कौन से पद हैं ?"

झीनी ने अपनी किताब खोलकर मीरा के एक पद पर अंगुली रखकर कहा—

"यहाँ से डाक्टर बाबू ! चार-पाँच पद।" राजेन्द्र गुनगुनाता धीरे-धीरे उस पद को पढ़ने लगा—

"जोगिया से प्रीति किये दुख होइ।

प्रीति कियाँ सुख ना मोरी सजनी जोगी मित न कोइ॥"

फिर बीच ही में रुक कर वह बोला—

झीनी ! इन पदों का काव्य-सौन्दर्य भली-भाँति समझने के लिए पहिले मीरा को ही समझना होगा। पहिले मीरा के सम्बन्ध में ही संक्षेप में बता देता हूँ।"

मीरा के जीवन में घटी कुछ विशेष घटनाओं को वह सुना रहा था। सुनाते-सुनाते कभी उमंग में उसकी आँखें चमक उठती हैं कभी भावावेश में उसका गला रुँध आता है।

मीरा की वह दर्द भरी कहानी सुनाते-सुनाते उसे लगा जैसे उसकी भी कोई नितान्त अपनी मीरा है। जो रुठकर कहीं चली गई है। आज भी मीरा ही की तरह जाने कहाँ-कहाँ भटकती फिर रही होगी।

मीरा की कथा के साथ-साथ जो यह दूसरी कथा उसके मन में चल रही थी, सो उसका राजेन्द्र को पता ही न चला।

मुंह से तो वह प्रेम-बावरी मीरा की कहानी गद्गद् कण्ठ से सुनाये जा रहा था पर आंखों के आंसू कब कैसे उसके मन की गुप्त करुण-कथा को गालों पर लिखलिख कर ढरके जा रहे थे; सो उसकी ओर राजेन्द्र का ध्यान ही न गया।

झीनी सिर झुकाये बैठी सुन रही थी। जिस तरह डूब कर वह सुनाये जा रहा था, सो सुनकर झीनी को लगा जैसे उसकी दिदिया ही मीरा है। किसी दिन वे भी मीरा की भाँति राजमहलों में रहती थीं और आज न जाने कहाँ भटकती फिर रही हैं।

यही बात सोच-सोच कर उसे लगा जैसे उसके अन्दर ही अन्दर कुछ आलोड़ित-सा होकर धीरे-धीरे मथ रहा है।

उसके मन की आँखें अपनी दिदिया को किसी मंदिर की सीढ़ी पर बैठा प्रत्यक्ष देख रही थीं। आँखें बार-बार छलछला आती हैं। बार-बार मुंह फेर कर हथेली से आंसू पोंछ लेती है।

उधर राजेन्द्र सुनाये जा रहा था—

"···और झीनी! वह मदमाती मीरा मन में न जाने कैसी पीर, कैसा दर्द दबाये जब बन-बन भटकती किसी पेड़ की छाँह में बैठ कर पुकार उठती थी—

प्रीत किये सुख ना मोरी सजनी—

जोगी मित न कोइ।

तो ·········तो··········· लगता था जैसे सब ओर, सब दिशायें पुकार उठी हैं—

प्रीति किये सुख ना मोरी सजनी जोगी····।"

बीच ही झीनी रुलाई के वेग को रोकती बोली—

"बस! बस!!"

फिर थोड़ी देर तक उस कमरे में सन्नाटा रहा। तब झीनी भर्राये स्वर में बोली—

"डाक्टर बाबू! मेरी दिदिया आपको बहुत·······।"

"…………।"

"डाक्टर बाबू !

"डाक्टर बाबू ! फिर दिदिया चली क्यों गई ? क्या हुआ था उस रात ? आप उन पर………।"

"………… ।"

"डाक्टर बाबू ! आपने भी कभी जोग किया है ?"

"…………।"

"यह सच बात है न कि—जोगी मित न कोई' कहती-कहती वह चुप रही फिर न जाने क्या सोच-सोचकर उसकी भृकुटी टेढ़ी होने लगी। साथ ही मारे दुःख के ठोढ़ी का वह छोटा तिल चमक-चमक कर काँपने लगा।

वह क्रोध क्षोभ से काँपते स्वर में बोली—

"डाक्टर बाबू ! आप उन्हें प्रेम नहीं करते थे तो क्यों हुई थी वह खिड़की बन्द ? क्यों ? क्यों डाक्टर बा………बू……… ।" कहते-कहते वह सिसकती-सी वहीं औंधी पड़ गई।

थोड़ी देर वैसी ही पड़ी रही फिर तुरन्त ही अपने को सँभालती झीनी उठकर बैठ गयी।

राजेन्द्र झीनी की ओर अपलक देखे जा रहा था। फिर उसकी आँखों में डूबा-डूबा ही बोला—

"झीनी ! उस रात जब यह खिड़की बन्द हुई थी तो क्या तुम इसी ओर देख रही थी ?"

"……………"

"बोलो झीनी !"

"हाँ"

"एक रात तुम खाना लेकर आई थीं। मैंने मना कर दिया था। तो घर जाकर रोई क्यों थी ?"

"…………"

"बोलो"

तब तक झीनी ने अपने को सँभाल लिया था। उदास हँसी हँसती बोली—

"क्या पता।"

"रोई तुम थी और पता पड़ोसियों को होगा ?"

"क्या पता।"

थोड़ी देर तक फिर कोई न बोला। उसके मुंह से बार-बार निकला 'क्या पता' सुनकर राजेन्द्र का समस्त चेहरा न जाने क्यों दीप्त हो उठा। सोचता-सोचता बोला—

"अच्छा झीनी ! इतने दिनों से मैं कहाँ-कैसा खाता-पीता हूं, सो उसकी ओर तो तुमने कभी ध्यान नहीं दिया और उस एक रात नहीं खाया तो रो-रो कर घर भर दिया था, सो क्यों ? क्यों झीनी !"

"आपने मेरी दिदिया को क्या, कैसे दुख दिया है ! और उसी के खाने-पीने की चिन्ता करने बैठूंगी ! वैसी मूर्ख नहीं है डाक्टर बाबू।" कहते-कहते खिचते होठों से रहस्य भरी हँसी हँस पड़ी।

खाने पीने की बात कह कर उस तरह झीनी को हँसते देख राजेन्द्र को लगा जैसे सहसा एक रहस्योद्‌घाटन हो गया है।

पिछले महीने भर से उसका होटल वाला अक्सर यह कहकर कि—"डाक्टर बाबू" कोई मरीज निगौड़ी की सब्जी, बथुए का रायता, गाजर का अचार दे गया है।" रोज एक विशेष चीज थाली में रख देता था।

वह तभी से प्रायः सोचता रहता है कि अचानक मेरे खाने-पीने का ध्यान रखने वाला यह शुभ चिन्तक इस बस्ती में कहाँ से आ गया। किन्तु आज अचानक सब कुछ स्पष्ट हो गया।

तभी झीनी उसकी ओर देखती-देखती बोली—"किस सोच में पड़ गये आप ?" फिर कुछ देर चुप रह कर बोली—

"डाक्टर बाबू ! मीरा की यह बात सच है कि—

'प्रीति किये सुख ना मोरी सजनी' प्रीति करने से दुःख ही होता है तो लोग प्रेम क्यों करते हैं ?'

"............."

"क्यों डाक्टर बाबू ।"

'झीनी ! ऐसी बातें समझाई नहीं जा सकतीं। समय आने पर अपने आप ही समझ में आ जाती हैं।"

थोड़ी देर चुप रह कर मीठा-मीठा मुस्काता राजेन्द्र बोला—"झीनो ! तुम बता सकती हो कि कई महीनों किसी से बिना बोले-चाले उसी के होटल वाले को, बहका-बहका कर किसी के लिए चटनी, रायता, अचार, और सब्जी क्यों गुपचुप पहुँचा आता है ? जानती हो इस 'क्यों' का जवाब भी वही दे सकता है, जिसने कभी ऐसा किया हो।"

झीनी ने कृत्रिम रोष भरे कण्ठ से कहा—

"अच्छा ! बस, अब। पढ़ाई-लिखाई की बात करिये।'

कुछ देर राजेन्द्र चुप बैठा रहा फिर बोला—'अच्छा, झीनी ! तुमने यह कैसे जाना कि मैंने तुम्हारी दिदिया को दुःख दिया है ?"

सुनकर झीनी को वही रात वाली बात याद हो आई।

अपनी रेशमी साड़ी का कोना उमेठती बोली—

"उस रात जब दिदिया घर पहुँची तो मेरे पास आकर लेट गई। फिर चुपचाप साड़ी के छोर से मुंह दबाये रोती रहीं थीं। आपने उन्हें डांटा था न !"

"तुमने चुपाया नहीं ?"

"नहीं !"

"तब मैं भी उनसे रूठ गई थी।"

"क्यों ? उस खिड़की के बन्द होन की बात को लेकर ?"

सिर झुकाये लजाती-सी रुकते-रुकते बोली—"पहिले आपने विवाह.......क्यों.........नहीं.........किया ? खिड़की.........बन्द...........

क्यों·······की ?"

सुनकर राजेन्द्र ग्रावाक् झीनी की ग्रोर निहारता रह गया। उसने कभी स्वप्न में भी न सोचा था कि उस रात खिड़की बन्द होकर खुलने में जो थोड़ी-सी देर लग गई थी, सो उसको लेकर यह झीनी ऐसी-ऐसी बातें सोच-सोच कर ग्रपना दिमाग खराब कर लेगी।

वह टूटते स्वर में बोला—"झीनी ! उस रात की तरह ग्राज तुम ने भी तो इस खिड़की को बन्द किया था।"

सुनकर झीनी को लगा जैसे ग्रासमान से उठाकर किसी ने धरती पर पटक दिया हो। न जाने क्यों उसकी चीख निकल गई—

"डा·······क्टर·······बा·······बू !"

"क्यों ? क्या हुग्रा !"

"················"

"झीनी !"

झीनी ग्रौंधी होकर राजेंद्र के पैरों पर जा पड़ी। उन पैरों को छाती से दबाये वह हिचक-हिचक कर रोने लगी।

राजेन्द्र उसकी पीठ थपथपा कर बोला—

"झीनी ! क्या बात है ? क्या हुग्रा ?"

"डाक्टर बाबू ! मैंने·······मैंने ही·······ग्रपनी दिदिया पर······· शंका की थी·······डाह की थी·······मैंने·······मैंने ही·······ग्रपनी······· दिदिया·······को मार डाला है !"

फिर राजेन्द्र के पैरों पर सिर पटक कर बोली—"दि····दि····या !" ग्रौर फफक-फफक कर रोने लगी।

राजेन्द्र उसकी पीठ सहलाता कहे जा रहा था—"झीनी ! चुप रहो ! गली में ग्राता जाता कोई सुन लेगा ! झीनी ! चुप रहो ! चुप रहो !!"

तभी राजेन्द्र को लगा जैसे ग्रचानक कोई द्वार पर ग्राकर उल्टे पैर लौट गया है। वैसा ग्रनुभव होते ही उसे लगा जैसे—उसके ग्रन्दर ही कहीं बिजली चमक गई है।

१८

रात के उस नीरव एकान्त में—अपने ही कमरे में—पैरों पर औंधी पड़ी, उस सद्य-यौवना झीनी की पीठ सहलाते—सहलाते अचानक वह रुक गया और ग्लानि, भय तथा किसी अदृष्ट आशंका से कांपता बोला—

"झीनी ! लगता है भइया आये हैं ! उठो !!" सुनकर झीनी को लगा जैसे वह चारपाई समेत घूम उठी है। उसके कानों में न जाने कैसी 'सांय·······सांय'-सी होने लगी।

वह घबराती, लजाती बिछौना छोड़कर कोने में जा दुबकी। उसके अन्दर ही अन्दर कोई पुकार उठा—"धरती मां ! तू फट जा !!"

राजेन्द्र कुछ देर किंकर्त्तव्य विमूढ़-सा कमरे में खड़ा रहा। तभी बाहर से आवाज आई।

"राजू !"

राजेन्द्र कोने में खड़ी झीनी को देखता जैसे तैसे हाँफता-सा बाहर आया। उसने झुककर भइया की चरण धूलि माथे से लगा ली।

भइया ने मन ही मन आशीष देकर कृत्रिम क्रोध से कहा—

"कैसा दुष्ट है तू ! मुझे कानों कान खबर तक नहीं दी और बहू को·······अच्छा·······अच्·······सब ठीक है।" कहते-कहते रुक गये फिर बोले—

"एक ही कमरा है ? फिर कैसे क्या होगा !"

उधर कमरे के अन्दर खड़ी किसी के मुंह से अपने आप निकल गया—"हे राम !"

राजेन्द्र कड़वी गोली-सी निगलता बोला—"नहीं जी ! सो सब ठीक है.........अभी सब ठीक हो जायेगा।"

कहता-कहता वह कमरे में आया। उसे लग रहा था जैसे वह आकाश में कहीं चल रहा है। जैसे पैरों से धरती छूती ही नहीं।

झीनी के पास जाकर धीरे से बोला—"तुम यह कपड़े लत्ते लेकर जल्दी घर जाओ"। वह बोली—"अच्छा !"

अपने कीचड़ से सने कपड़े लेकर मारे लाजशर्म के धरती में गढ़ती-सी वह सिर झुकाये जाने लगी तभी कमरे से बाहर आँगन में खड़े भइया बोले—"कितने सालों से राजू की बहू को देखने की साध थी और बहू ! तुम ने अपने इस किसान जेठ के पैर भी नहीं छुये ?"

सुनकर उसे लगा जैसे उसकी पिंडलियां काँप रही हैं। वह जाते-जाते ठिठक गई फिर लौट कर जैसे तैसे भइया के चरणों पर माथा टेक कर चली गई।

× × ×

राजेन्द्र के भइया को देखकर लगता है—जैसे प्राचीन युग का कोई इस बीसवीं शताब्दी में भूला भटका आ पहुँचा है।

संस्कृत पढ़ने की लगन थी सो जंगल में गाय भैंसें चराते-चराते दस बारह वर्ष की उम्र में घर वालों से बिना कुछ कह सुने काशी जा पहुँचे।

जब गांव में आचार्य की पदवी लेकर लौटे तब चौबीस पार करके पच्चीसवें वर्ष में प्रवेश किया था। इतना पढ़ लिखकर भी वह सांसारिक व्यवहार को बिलकुल नहीं समझते थे। छोटी-बड़ी सभी बातों को 'प्रभु की लीला' ही मान कर चल पाते थे।

इतना पढ़ लिख लेने के बाद भी जब गांव में आकर उन्होंने हल की मूंठ ही सँभाली और बैलों को हकारते अपने खेतों को जोतने बोने लगे तो कुछ दिनों तक गांव और उसके आस-पास खूब चर्चा रही।

आजकल कुछ लोग उन्हें देवता समझ कर पूजते हैं और कुछ अति

संसारी। कई 'पढ़ा-लिखा भैंसा' कह कर ही सदा स्मरण किया करते हैं।

जब पढ़ लिखकर लौटे थे तो एक दिन किसी दूर के गाँव का व्यवहारी चतुर ब्राह्मण अपनी अति उग्र स्वभाव की कन्या का रिश्ता तय करके चला गया।

विवाह हुआ और राजेन्द्र के भइया उस गृहस्थी के घोर जँजाल में फँस गये। सब सत्-असत् को अपने प्रभु की लीला मान कर गृहस्थी-जन्य उस उतने बड़े आत्मपीड़न को चुपचाप सहने लगे; फिर इस अकर्मण्य कनिष्ठ भाई राजेन्द्र ने भी उन्हें कम कष्ट नहीं दिया है।

× × ×

राजेन्द्र के भइया जब कमरे में आये तो कुछ देर इधर-उधर कमरे में रक्खी चीजों को देखकर बोले—

"जानता हूँ कि संसार की बातें में कम ही समझ पाता हूँ पर भाई! शादी-ब्याह जैसे बड़े काम क्या अकेले-अकेले करने के होते हैं! मुझे भी तो खबर देता! लगता है तू अपनी दुष्टता कभी नहीं छोड़ेगा। क्यों राजू? "कहते-कहते उस दुष्ट छोटे भाई के प्रति उमड़ते वात्सल्य से उनका चेहरा अति दयनीय-सा हो उठा।

फिर बोले—"राजू, तू इधर पानी के छींटे मार दे। बस यहीं लेट जाऊँगा।'

"और भोजन?"

"भोजन तो हो चुका है। उसकी तू चिन्ता मत कर।"

तभी राजेन्द्र को ध्यान आया कि भइया चारपाई पर नहीं लेटते हैं लेकिन इतनी रात गये लकड़ी का तख्त कहाँ से लायेगा?

कमरे के बीच लालटेन जल रही थी। भइया के पास राजेन्द्र ने भी अपना बिस्तर धरती पर ही बिछा लिया। इसी बीच प्रबन्ध करते-करते वह भइया से घर के समाचार भी पूछता जा रहा था।

भइया खादी की मोटी मिरजई पहिने बिछौने पर बैठे थे। वे न जाने कैसी पुलकित दृष्टि से राजेन्द्र को निहारते जा रहे थे। फिर

बोले—"दुष्टता तेरे चेहरे से गई नहीं ! क्यों ?"

उधर राजेन्द्र डर रहा था कि झीनी या जिसे वे अपनी बहू मान बैठे हैं, सो उसी के बारे में कुछ पूछ-ताछ शुरू न कर दें। इसलिए उन्हें कुछ बोलने का मौका दिये बिना अपनी ओर से ही प्रश्नों की झड़ी लगाये जा रहा था कि—

"कब घर से चले थे? भतीजियों की शादी कब हुई? कहाँ हुई? कब घर लौटेंगी? छोटा भतीजा मधुसूदन कैसा है? कहाँ पढ़ता है? भाभी कैसी हैं ?"

'भाभी का नाम लेते ही भइया का चेहरा उतर गया। फिर भारी कंठ से बोले—

"राजू! अब तू सो जा। हारा-थका होगा। लालटेन की बत्ती धीमी कर दे।"

राजेन्द्र बत्ती धीमी करके अपने बिस्तर पर आ लेटा।

भइया चुपचाप बैठे न जाने क्या सोचते-विचारते रहे फिर बिछौने पर लेटकर बोले—

"राजू! एक बात मेरी समझ में नहीं आती।"

सुनकर मारे भय के राजू कांप गया। सोचने लगा—अब हुआ प्रारम्भ वही झीनी—बहू—शादी का प्रसंग।

"तू आगरे से अचानक भागा क्यों? जब तूने चोरी नहीं की थी तो फिर वहाँ से भाग निकलने की बात मेरी समझ में नहीं आती।

जानता है तेरे अचानक भाग निकलने से अपने कुटुम्ब का कैसा अपयश चारों ओर फैला था। वकील साहब ने तेरे नाम के वारण्ट निकलवाये। तीसरे दिन पुलिस के दरोगा द्वार पर आ खड़े होते थे। तुझे पकड़वाने के लिये जाने कितने रुपये उस वकील ने पुलिस को दिये थे, सो उसका भी कुछ ठिकाना है ? जब तू निरपराध था तो भागना नहीं चाहिये था।"

वह भर्राये कंठ से बोला—"भइया!"

"हाँ राजू! और देखो मेरे प्रभु की लीला। थोड़े ही दिनों बाद उस असली अपराधी ने कचहरी में जाकर अपना अपराध स्वीकार कर लिया। तब जाकर उस उतने बड़े अपयश से छुटकारा मिला।"

सुनकर राजेन्द्र मारे अचरज के आँखें फाड़े उस अँधियारी में भइया को देखता-देखता उछलकर बिछौने पर बैठ गया। फिर दौड़कर लालटेन की बत्ती जला दी।

भइया बोले—"यह प्रकाश क्यों कर दिया? सोने नहीं देगा? तेरी......।"

राजेन्द्र बीच ही में बोला—

"चोर पकड़ा गया?"

"इसमें इतना आश्चर्य करने की क्या बात है?"

"कब?"

"एक साल होगया।"

"आपने मुझे क्यों नहीं लिखा?"

"तुझे? कहाँ लिखता तुझे? इस इतनी बड़ी धरती पर तुझे कहाँ खोजने जाता? सब सगे-सम्बन्धियों को पत्र लिख-लिखकर पूछताछ की, पर तेरी कोई खबर नहीं मिली।"

"पर अपराध स्वीकार करने वाला वह कौन है?"

"बताता हूँ" कहकर कुछ देर चुप रहकर बोले—"राजू! जिस तरह तुझ निरपराध को उन वकील साहब ने क्लेश दिया था उसी तरह अपनी वकालत के चमत्कार से जजों, मजिस्ट्रेटों से जान-पहिचाना के सहारे न जाने कितने निरपराध मनुष्यों को फाँसी पर चढ़वा दिया उन्हीं में से किसी ऐसे ही प्राण गंवाने वाले किसान के पुत्र ने आकर एक रात वकील साहब का अंग-अंग काट डाला।"

"वकील साहब मारे गये?"

"हाँ राजू! कभी-कभी भगवान् ऐसी भी लीला रचाते हैं कि मनुष्य अपने इस 'अहं' को त्यागकर उस परम तत्व को पहिचान ले, नहीं तो

अपनी ही संतान को वे परम दयालु इतना बड़ा संताप देकर ऐसी अमानुषिक मौत कैसे दे पाते हैं।"

"हत्यारा पकड़ा गया?"

"नहीं, वह डाकू बन गया है। कहता है जिन्होंने मेरे बेकसूर बापू को फांसी दिलवाई है—जिन्होंने उनके खिलाफ झूठी गवाही दी है उन सबको बिना मारे मैं नहीं मरूँगा। अपने प्रांत में उस डाकू का ऐसा आंतक है कि लोग भय के मारे कांपते रहते हैं।" कहकर वे चुप हो गये।

फिर बोले—"पर राजू, मैं कहता हूँ इस तरह बदला लेकर क्या आज तक किसी को शान्ति मिली है?"

कहते-कहते उन्होंने आंखे बन्द कर लीं। उनका समस्त चेहरा न जाने कैसी आभा से दीप्त हो उठा। फिर ओठों पर मन्द-मन्द मुस्कान बिखेरते बोले—

राजू ! श्री मद्भागवत के तृतीय स्कन्ध में एक स्थान पर भगवान ने अपने श्री मुख से ही कहा है—

द्विषत: परकाये मां मानिनो भिन्न दर्शिन: ।
भूतेषु बद्धवैरस्य न मन: शान्ति मृच्छति ॥

कहते हैं—जो भेददर्शी और अभिमानी पुरुष दूसरे जीवों के साथ वैर बांध लेता है, वह इस प्रकार जीवों में बैठे मुझ ही से द्वेष करता है। ऐसे द्वेषी मन को कभी शान्ति नहीं मिल सकती।

इसीलिए जीवन भर वकील साहब को शान्ति नहीं मिली और न मृत किसान के उस युवा पुत्र डाकू को मरते दम तक चैन मिलेगा—

लेकिन कितने समझते हैं इस बात को। इसे समझने के लिए पिछले जन्मों का पुण्य-प्रताप चाहिये। कोई जागृत आत्मा ही इन बातों को समझ पाती है, जिसका भगवान् पर भरोसा होता है। बिना उनमें विश्वास किये कोई नहीं समझ पाता राजू! "कहते-कहते वे चुप हो गये।

फिर राजेन्द्र की ओर देखते-देखते बोले—

"कभी भगवान का नाम स्मरण कर लेता है ? और पूजा-पाठ करता है या नहीं ?"

'हाँ करता हूँ भइया ! लेकिन करता उन्हीं की हूँ जिन्हें मैं सचमुच ही देवता मानता हूँ।"

"किसे मानता है अपना इष्ट ?"

"उधर देखिये दीवाल पर !"

राजेन्द्र ने दीवाल पर टँगी उन्हीं भइया के फोटो की ओर संकेत किया।

उधर देखकर भइया ने अपनी आँखें मींच लीं। उनका रोम-रोम भ्रातृ-प्रेम से पुलकित हो उठा। उसी मुद्रा में बोले—

"दुष्टता तूने त्यागी नहीं है अभी तक, क्यों रे........।"

राजू ने भइया की पूरी बात बिना सुने ही कहा—"लेकिन भइया यह तो बताइए वह अपने आप जाकर कचहरी मे अपराध स्वीकार करने वाला कौन था ?"

'हाँ, वही अपना खंजन था।"

"खंजन !"

"हां राजू !" कहते-कहते भइया बिछौने पर लेट गये।

फिर आँखें बन्द किये ही बोले—"कल सुबह नौ बजे की गाड़ी पकड़नी है। परसों तक यूनिवर्सिटी पहुँच जाना है। अब सोता हूँ। तू उठकर बत्ती बुझा दे।"कहते-कहते दूसरी ओर करवट लेकर भइया चुप हो गये।

राजेन्द्र ने उठकर बत्ती बुझा दी और चुपचाप बिछौने पर आ लेटा। पर खंजन ने स्वयं अपराध स्वीकार कर लिया यह अचरज की बात सुनकर उसकी नींद उड़ गई। उसे इस बात पर किसी भी तरह विश्वास नहीं हो रहा है; किन्तु जब भइया कहते हैं तो मिथ्या कहकर उड़ा भी नहीं पाता।

१६

कितने वर्षों बाद दो सहोदरों ने एक-दूसरे को देखा है। पास ही पास अपने-अपने बिछौनों पर लेटे हैं। एक दूसरे को सोता हुआ समझ कर चुप हैं किन्तु सिवा उस अन्तर्यामी के कौन जानता है कि उन बन्धुओं के हृदयों में एक-दूसरे को लेकर स्नेह, श्रद्धा और वत्सलता के कैसे—कैसे अतल-असीम पारावार हिलोरें ले रहे हैं।

वे दोनों बार-बार उस भक्ति स्नेह की तरंगों में डुबकियाँ लगा जाते हैं फिर विगत जीवन की न जाने कितनी छोटी-मोटी स्मृतियों के तल छू-छू कर ऊपर उछर आते हैं।

मक्कार-ठग-झूठे खंजन की भलमनसाहत पर राजेन्द्र कैसे भी विश्वास नहीं कर पाता पर भइया जब कहते हैं तो विश्वास करना ही पड़ता है।

विश्वास-अविश्वास के बीच बहुत देर तक उनका मन त्रिशंकु की भांति अधर लटका रहा। फिर धीरे-धीरे वह विश्वास की धरती पर उतर आया।

तब उसे लगा जैसे उस ग्वाले खंजन से बढ़कर भला आदमी इस धरती पर कभी न जन्मा और न आगे जन्मेगा।

सोचने लगा—सत्य-असत्य और मक्कारियों को लेकर उस ग्वाले को कितनी बार आनगाँव के आदमियों के सामने उसने लाञ्छित, अपमानित किया है और वही अचानक इतना बड़ा सन्त कैसे बन गया।

खंजन की पूरी बात सुनने के लिए उसका मन व्याकुल हो उठा। बोला—

"भइया"

"तू अभी तक सोया नहीं ?"

"भइया ! मैं उस ग्वाले की बात को लेकर कितनी बार आप से लड़ा झगड़ा हूँ पर आज लगता है कि उससे बड़ा भला आदमी इस धरती पर कभी नहीं जन्मा।

सुनकर भइया ने जमुहाई लेते-लेते कहा—"अरे नहीं राजू ! वह महादुष्ट है।"

इस 'दुष्ट' और 'महादुष्ट' का अर्थ भइया के शब्दकोश में क्या है इस बात को राजेन्द्र बचपन से समझता आ रहा है।

जब उन बड़े भइया के मन में किसी के लिए बहुत स्नेह उमड़ता है तो उसे सदा 'दुष्ट' 'महादुष्ट' कहकर ही पुकार उठते हैं।

तभी भइया बोले—"राजू! उस दुष्ट को मैं बचपन से जानता हूँ, तुम भी उसके बारे में कुछ समझ पाओ इसीलिए बताता हूँ। चोरी करना, झूठ बोलना उसका पुराना धन्धा है। सचमुच उसकी सभी बातें रहस्यमय होती हैं। कभी लगता है कि ऐसा सन्त इस धरती पर कभी नहीं जन्मा और कभी उसकी बातों पर क्रोध भी कम नहीं आता।

तुम्हें अपने बचपन की बात बताता हूँ। खंजन मुझ से दो साल उम्र में छोटा है। बचपन में हम दोनों साथ ही साथ जंगल में जाकर गाय भैंसें चराते थे; इसलिए इस दुष्ट को मुझ से ज्यादा अच्छी तरह कोई नहीं जानता।

उन दिनों गाँव में अपने मकान के पिछवाड़े ही एक गुमियाँ नाम की मुसलमान जुलाहा बुढ़िया रहती थी। उसके घर वाले सब मरमरा गये थे। अकेली अपनी झोपड़ी में रहती थी। बात का उसे रोग था, इसलिए दोनों घोंटू सदा सूजे रहते थे। चल फिर नहीं पाती थी। उधर उसकी पीठ पर ऐसा पुराना फोड़ा था जो सालों से पकता फूटता आ रहा था। वर्षा के दिनों में सदा उसमें कीड़े पड़ जाते थे। दुर्गन्ध के मारे कोई उसके पास तक खड़ा नहीं होता था।

न जाने क्यों यह दुष्ट ग्वाला खंजन उसका परम भक्त हो गया। इसकी यही बात तो समझ में नहीं आती। जाने किस-किस के बाग से आम, अमरूद, जामुन, खिरनी चुरा-चुराकर लाता था और चुपचाप जाकर उस बुढ़िया को खिला आता था। वह बुढ़िया भी उसे ऐसा प्यार करती मानो वह उसी का अपना सगा बेटा हो। और जब उन माँ-बेटों का वाक्-युद्ध होता था तो हँसते-हँसते गाँव के लोग लोट-पोट हो जाते थे।

असल में खंजन के माँ-बाप कुटुम्बी बचपन ही मे मर गये थे। इसलिए वह अपनी एक भैंस और दो गायों को लेकर अकेला ही झोपड़ी में रहता था। जब उसका मन उचाट होता तो उसी बुढ़िया के पास जा बैठता था। वह बुढ़िया किस्से-कहानियों की तो अशेष भंडार थी। कभी-कभी उस ग्वाले के साथ मैं भी कहानियाँ सुनने चला जाता था। अक्सर गाँव के बच्चे उसकी झोपड़ी के सामने खड़े होकर उसे चिढ़ाया करते थे—

जब गुमियाँ ने चुराया घोड़ा।
तो पीठ पे निकला फोड़ा॥

उधर वह बुढ़िया चिढ़कर अंदर से कंकड़ और मिट्टी के ढेले फेंका करती थी। कभी-कभी उसकी झोपड़ी के सामने इसी बात को लेकर बच्चों का मेला-सा लग जाता था। पर जब बच्चों का वह समुदाय इस ग्वाले को प्लुत-स्वर में मुंह से गालियाँ निकालते अपनी ओर आता देखता तो ऐसी भगदड़ मचती थी जैसे राक्षसों के बीच महावीर पवनपुत्र गगनभेदी हुँकार करते आ पहुँचे हैं।

अविधर्मी माँ-बेटे के लड़ाई-झगड़े की भी एक बात तुम्हें सुना दूं। उनकी बातें याद-याद कर-करके लगता है कि जिनके बीच आपस में स्नेह की अजस्रधारा बहती रहती है उनका लड़ाई-झगड़ा भी कितना सरस होता है।

एक दिन खंजन आम और जामुनों से भरा थैला लेकर बुढ़िया की

झोपड़ी में गया। जैसे ही इसने वह थैला उसकी ओर बढ़ाया कि बुढ़िया फुफकार उठी। उसने वही झोला उठाकर उसी के मुंह पर दे मारा और पागलों की तरह चीखने-पुकारने लगी।

मैं भी उस दिन उसके साथ था। बुढ़िया क्रोध में कांपती बोली—"सत्यानासी! चोर! उचके!! अभी-अभी रूपा की अम्मा बताकर गई है, चोरी कर-करके आता है अपनी लाड़ली अम्मा को आम-जामुन खिलाने। अब कभी चोरी की तो तेरा सिर फोड़ दूंगी।

कहते-कहते खंजन की वह विधर्मी अम्मा फफक-फफककर रोने लगी। रोते-रोते बोली—"अरे गया कहाँ रे! कहीं चोट तो नहीं आगई ?"

खंजन झोपड़ी के बाहर आ खड़ा हुआ था। बाहर से ही दाँत पीसता बोला—"चुड़ैल! पहले उठाकर मुंह पर थैला मारती है फिर हेज (स्नेह) दिखाती है।"

वह चीखती बोली—"तों कमीने! क्यों करता है बाग-बगीचों में जा-जाकर चोरी।

"अरी ओ डाइन! धीरे बोल। गाँव के पंच बाबा ने सुन लिया तो मेरी हड्डी-पसली तोड़ डालेंगे। पर तुझे क्या, तू तो पड़ी मौज से दिन-रात खटिया तोड़ती रहती है, और चोरी करने पर हड्डी-पसली टूटती है मेरी।"

सुनकर बुढ़िया अपने लाड़ले के उस कल्पित अमंगल को किसी भी तरह न सह पायी। बोली—'बड़े आये हड्डी-पसली तोड़ने वाले। किसी ने हाथ भी लगाया तो टिटुआ (गर्दन) में दाँत गढ़ाकर खून नहीं पी लूंगी। आया कहीं का सरपंच।"

गठिया के दर्द के मारे उससे हिला तक नहीं जाता था पर अपने उस चोर बेटे को मनाने धरती पर घिसटती-घिसटती बाहर आगई। उसे वैसे घिसटते देख वह खंजन चीखने लगा—"कोढ़िन! तू जिस दिन मरेगी उस दिन भगवान् की मठिया (मंदिर) में जाकर घी के दीये

जलाऊँगा। लाख बार कहा खटिया से नीचे मत उतर, पर मानती है ? पहले घिसटती फिरती है फिर मुझ से घंटों तेल मलवाती है।"

"तो हत्यारे तू अन्दर क्यों नहीं आता ?"

"आ तो रहा हूँ।"

थोड़ी देर बाद मैंने अन्दर झाँक कर देखा—वह खंजन अपनी बुढ़िया माँ की गोद में मुंह छिपाये फफक-फफक कर रो रहा था और वह अपनी बूढ़ी आँखों से आंसू बहाती, उसके सिर पर हाथ फेरती कह रही थी—

"मेरे बच्चे! अब कभी चोरी मत करना। चोरी करना गुनाह है। अल्लाहताला चोर को कभी माफ नहीं करता।"

"राजू! तुझे याद होगा एक दिन मैंने खंजन को रुपये दिये थे और................।"

"मुझे स्कूल की फीस नहीं दी थी।"

"हाँ राजू! वे रुपये उसने उसी बुढ़िया के मरने के बाद उसकी पक्की समाधि बनाने में खर्च किये और मुझ से कहा था कि घर में अन्न का दाना नहीं है। सो उसी के लिये रुपये चाहियें।

उसका अपना कोई नहीं है। दूसरों के लिए इसी तरह झूठ सच बोलते,चोरी करते उसका सारा जीवन बीत गया। अब जो ६ साल के लिए कारागार में जा बैठा है सो क्या अपने लिए ? न जाने कहाँ, किसकी मदद करने के लिए चोरी की होगी ? राजू ऐसा दुष्ट आदमी मैंने कभी नहीं देखा।"

कहते कहते भइया का गला भर आया। कुछ देर चुप रह कर बोले—"राजू जेल जाने से पहले तो उसने मुझे ऐसे संकट में डाल दिया कि तुझे क्या बताऊँ ?"

"क्या हुआ था ?"

"पिछले साल अपने यहाँ सूखा पड़ गया था। खेतों में इतना भी अन्न नहीं हुआ कि महीने भर का भी काम चल पाता।

उस दिन अपने घर में अन्न नहीं था। दो दिन से चूल्हा नहीं जला था। जैसे-तैसे चना चबेना चबा कर पिछले दो तीन दिन बिताये थे।

साँझ का समय था। मैं मन्दिर के कोने पर बैठा खिन्न चित्त संध्या पूजन कर रहा था। तभी वह दुष्ट मन्दिर की सीढ़ियों पर आ बैठा।

धीरे से गिड़गिड़ाता बोला—"भइया ! ओ भइया !!"

सुनकर कई बार मैंने संकेत से उसे शान्त रहने के लिए कहा पर संकेत करते ही वह और ऊँचे स्वर से बोल उठता था—"भइया ! ओ भइया !!"

इस तरह उसके पुकारने से लगता था कि वह किसी बड़े संकट में है। अन्त में झुंझलाकर मैं आसन समेट कर उठ बैठा। मैंने उससे कहा—"तू कैसा दुष्ट है रे ! पूजा भी पूरी नहीं होने दी।"

उसने मेरी बात पर ध्यान ही नहीं दिया। मन्दिर की नीची सीढ़ी से उठकर मेरे पास ऊपर की सीढ़ी पर आ बैठा और गद्‌गद् कण्ठ से बोला—"गंगई ! (गंगा की सौगन्ध) भइया ! मेरी दूर की विधवा भौजाई आई है। कहें तो कम्पिला (कम्पिल तीर्थ) जाके गंगा में डुबकी लगवा लाऊँ ?"

मैंने कहा—"सो जाता क्यों नहीं! इतनी बात के लिए मेरे नित-नेम में आकर क्यों बाधा डाली ?"

सुनकर बोला—"गंगई ! भइया ! जेठ की गर्मी में बिना रब्बा (छायादार बैलगाड़ी) के काम नहीं चलेगा। एक दिन के लिए अपना रब्बा बैल दे देते तो छाया-छाया में ही चला जाता। अभी बैलों को चारा दाना खिलाकर भुरारे ही चल दूंगा परसों कलेऊ की बिरियाँ तक लौट आऊंगा। क्यों न भइया ? ले जाऊँ रब्बा ?"

मैं रब्बा बैल बेचकर अन्न खरीदना चाहता था। अपने मधुसूदन का भूखा मुंह देखा नहीं जाता था। मैंने साफ मना कर दिया। बस राजू ! वह तो मेरे पैर पकड़कर डिड़कारी मारता रो पड़ा।

अन्त में उसका रोना देख और विधवा के गंगा स्नान की बात सोचकर मैंने उसे बैल रब्बा दे दिया। अन्त में आंसू पोछता वह गंगा का भक्त जल्दी जल्दी से उठा। खूंटे से बैल छोड़ कर रब्बा में जोत लिये और 'पांय लागूं भइया ! परसो लौट आऊंगा' कहता बैल दौड़ाता चला गया।

दूसरे दिन प्रातः काल में स्नान-ध्यान करके हाथ में पानी का भरा लोटा लिये मन्दिर की उन्हीं सीढ़ियों से उतर रहा था तभी कंधे पर हल रक्खे गली में खड़ा मनसुख काछी बोला—"पंडितजी ! तुम्हारे रब्बा बैल तो गये अब हाथ से !"

मैं घबरा कर बोला—"क्यों ? खेजन गंगा स्नान करने गया है। कल लौट आयेगा।"

"पंडितजी कैसी बातें कर रहे हो ? खंजन तो अपनी झोंपड़ी के आगे नीम के नीचे खटोला बिछाये पड़ा है और आपका बैल रब्बा जा पहुंचा यहां से बीस मील दूर रामनगरिया गांव में ! अब क्या वापस मिलेगा ?"

उस मनसुख की बात सुनकर राजू ! मेरे प्राण निकल गये।

मैं घबराता-सा बोला—"क्या बेच दिया है ?" सो तो पंडितजी नहीं मालूम। कल बिटिया की बिदा करके आ रहा था। रास्ते में ही देखा था।" कहता कहता वह तो चला गया और मैंने इधर उधर पूछ-ताछ की तो पता चला कि सब से उसनें झूठ-मूठ कह दिया था कि रब्बा बैल उसने खरीद लिया है ! मैंने उसे बेचने की बात कइयों से चला रक्खी थी सो सब को विश्वास भी आगया।"

"क्या सचमुच बेच ही दिया था ?"

"नहीं, बात यह थी कि अपने गांव के पास ही जो गोकुलपुर है न ! उसी में एक दरिद्रब्राह्मण रहता था। उसकी कन्या का विवाह था। वह दहेज में रब्बा और एक जोड़ी बैल देने को कह आया था पर दे नहीं पाया। उधर वर पक्ष के लोग पूरा दहेज न मिलने से वर को

विना बियाहे वेदी से उठाये लिये जा रहे थे। और इधर अपना वह दुष्ट ग्वाला भी वहीं कहीं विवाह के दर्शकों में खड़ा था। सो उसके होते इतना बड़ा अन्याय कैसे हो पाता।

आगे बढ़कर बोला—"मैंने आज ही जलालपुर वाले पंडितजी से रव्वा बैल खरीदा था। मैंने अपना वही रव्वा बैल कन्यादान में दे दिया बस ? ब्याह का काम चलने दो। मैं अभी रव्वा बैल लाता हूँ।"

और राजू। झूठ-सच बोल कर धोखे घड़ी से अपना रव्वा बैल कन्यादान में लेजा कर दे दिया और इस तरह उस ब्राह्मण की लाज तो बचा ली पर मुझ दूसरे ब्राह्मण के समूचे परिवार को भूखा मरने के लिए छोड़ दिया !"

"लेकिन आप तो कहते हैं कि उस जैसा सन्त इस धरती पर........"

"आगे तो सुन ! मैं भागा-भागा उस दुष्ट ग्वाले के पास गया। वह सचमुच ही झोंपड़ी के आगे एक टूटे खटोले पर नीम के नीचे लेटा था।

सहसा मुझे अपनी ओर आता देख संत्रस्त-सा उठकर खड़ा होगया फिर धीरे-धीरे आगे बढ़ आया। मेरे पैर छूने के लिए झुककर हाथ बढ़ाये। मैं क्रोध में काँपता दूसरी ओर उछल गया।

तव बड़े धीरज से बोला—'गंगई पंडित........।"

मैं बीच ही में बोला—'नीच! मेरा रव्वा बैल दहेज में क्यों दे आया ?"

तो एक हथेली से आंसू पोंछता बोला—"गंगई भइया, गाँव की बेटी अपनी बेटी के बराबर होती है। मढ़ये (मंडप) से लड़का उठ जाता तो क्या उस बामन की बिटिया का दूसरा ब्याह होता ?"

न जाने क्या-क्या कहे जा रहा था। और मेरी आँखें अपने भूखे परिवार को देख रही थीं—तू जानता है क्रोध में चीखता-पुकारता मैं कम ही हूँ। पर उस दिन न जाने मेरे प्रभु ने मुझे कैसी मति दी। मैंने उसे शाप देने के लिए अपना जनेऊ हाथ में ले लिया।

मेरे हाथ में जनेऊ देखकर वह ग्वाला पीला पड़ गया। दौड़कर मेरे पैरों में गुम्फी डालकर गिड़गिड़ाता बोला—

"गंगई भइया, सारी जिन्दगी चोरी करते झूठ वोलते ही बीती है। तुम देवता आदमी हो। जो तुमने जनेऊ हाथ में लेकर कुछ वुरा भला कह दिया तो नरक में भी ठौर नहीं मिलेगा। कल शाम तक तुम्हारा रब्बा बैल घर न ला पाऊँ तो फिर जो चाहे सो करना।"

राजू सचमुच ही वह उसी दिन बीस मील दौड़कर गया और रात होने पर वहाँ से रब्बा बैल चुराकर भाग आया। फिर वे वर पक्ष वाले खोज करके गवाँ में आये। सही बात जानकर उस ग्वाले को गाली-गलौज देकर थोड़ी बहुत मार-पीट की और जलते-भुनते चले गये।

राजू ग्वाले के झूठ और चोरी से उस ब्राह्मण की कन्या का विवाह हो गया। अपना रब्बा बैल घर आगया। किसी का कुछ नहीं बिगड़ा पर सारी दौड़-धूप करके गाली-गलौज और मारपीट सही उस ग्वाले ने।

राजू! उसके बारे में बचपन से ही सोचता आ रहा हूँ पर कुछ भी नहीं समझ पाता। दूसरों के लिए चोरी, ठगई करने में उसे मिलता क्या है? उसका अपना कोई नहीं है पर उसके मुँह को देखकर लगता है जैसे सारे संसार की चिन्ता फिक्र उसी को खाये जा रही है।"

"भइया, उस वकील के घर चोरी करने से पहले आपको मिला था?"

"हाँ राजू, उन दिनों में तेरी बात को लेकर बहुत दुःखी रहता था। सब ओर अपने वंश की बदनामी हो रही थी। कभी तो लोग पास से कहते निकल जाते थे कि—"करते हैं वेद शास्तर की बातें और भइया आगरे में चोरी करके भाग गया।

राजू, उन दिनों के क्लेश की बातें याद करता हूँ तो काँप जाता हूँ। मुझे तो उन दिनों लगता था जैसे मैंने ही चोरी की थी। किसी के सामने आँख उठाकर भी बात नहीं कर पाता था। अब तुझे क्या

बताऊँ ? मुझे तो आसन बिछाकर भगवान् के सामने बैठने में भी लज्जा आती थी।

उधर उन दिनों उस ग्वाले के पुत्र को न जाने क्या होगया था। सदा मेरे आगे पीछे ही घूमता रहता था।

सच कहता हूँ उस दुःख के मारे लगता था जैसे मेरे हाथ पैरों में से जान निकल गई है। आधा बीघा हल नहीं जोत पाता था। जरा-सी देर में थककर मेड़ पर जा बैठता था। तभी न जाने कहाँ से वह दुष्ट ग्वाला आकर प्रगट हो जाता था।

फिर वही सारे दिन हल जोतता था और मुझे आराम करने के लिए घर भेज देता था।"

राजेन्द्र के कारण भइया को जो आत्मपीड़न सहना पड़ा था उसे सुनकर राजेन्द्र का मन करता था कि भइया के पैरों पर सिर पटक-पटक कर जी भर रो ले पर सांस रोके चुपचाप बैठा सुनता रहा ।

तभी भइया बोले—

"राजू, उस दिन मेरा मन बहुत दुःखी था। नदी किनारे तरबूजों की रखवाली करता अकेला खेत में खाट बिछाये लेटा था।

तभी न जाने कहाँ से वह ग्वाला पास आकर बैठ गया। कुछ देर चुप बैठा रहा फिर बोला—

"गंगई भइया, क्यों उठाते हो इतना दुःख। चोरी राजू ने की है सो तुम्हें क्या? तुम क्यों मन मैला करते हो ? सब से साफ-साफ कह क्यों नहीं देते ?"

उसकी बात सुनकर मुझे बहुत बुरा लगा। मैंने कहा—"भाई, हम दोनों सहोदर हैं। एक मां के पेट से जन्मे हैं सो एक के पाप से दूसरा बच कैसे सकता है ?"

बोला—"भइया, तुम देवता आदमी हो। सच मानना तुम्हारा दुःख देख-देखकर आजकल मुझे खाना पीना तक नहीं सुहाता है। कल

साँझ को दो फुलकियां खाई थीं और आज सारा दिन होगया मुंह में अन्न का दाना नहीं गया है।"

सुनकर मैं झुंझला उठा। मैंने सोचा—यह भूखा है सो बहानेबाजी करके, झूठा स्नेह प्रेम दिखाकर तरबूज खाने आया है। उन दिनों न जाने मेरा कैसा चिड़चिड़ा स्वभाव होगया था कि ज़रा-सी बात पर चीख पुकार उठता था।

मैं झुंझलाता खेत में से खोजकर एक बहुत बड़ा तरबूज तोड़ लाया और उसके सामने पटक दिया।

वह चुपचाप बैठा रहा। उसने तरबूज की ओर देखा तक नहीं। मैं उसकी ओर पीठ देकर लेट गया।

तभी मेरे कानों ने सुना कि वह हिचकियां भरकर रो रहा है। वह सुनकर मैं मारे क्षोभ के चीख पड़ा—

"मैं अपने मारे मरा जा रहा हूं। अब दिन भर का हारा थका लेटा-लेटा सोच रहा था—घड़ी भर सो लूंगा—और बीच ही में तू प्राण खाने यहां आ बैठा। अरे भूखा है तो यह तरबूज उठा ले जा। रोयेगा सिसकारेगा तो इसे ही उठाकर तेरे सिर पर दे मारूंगा।

राजू, मेरी बात सुनकर वह उठा और बिना एक शब्द कहे चुपचाप वहां से चला गया।

उसी के तीन-चार दिन बाद सुना कि उसने कचहरी में आकर मैजिस्ट्रेट के सामने चोरी करने का अपराध स्वीकार कर लिया है। फिर उसी अपराध में दो साल का कठोर कारावास का दण्ड भोगने चला गया।

जब उसने स्वयं ही अपराध स्वीकार कर लिया तो बात चारों ओर फैल गई और अपयश की वह कालिख अपने मुख से धुल गई। उस दिन भगवान् के चरणों में लोट-लोटकर पूछता रहा—

"भगवान्! इतने दिनों तक किस अपराध के लिए इतना बड़ा दंड दिये जा रहे थे?" पर उत्तर नहीं मिला।

राजू, उस दुष्ट ग्वाले की कुमति बदल जाये इसके लिए कितनी बार मैंने अपने प्रभु के चरणों में बैठकर विनती प्रार्थना की है पर वह नहीं बदला।

"आजकल उससे मिलने के लिए न जाने क्यों अन्दर ही अन्दर प्राण अधीर हो उठते हैं। उस दिन तरबूज छोड़कर भूखा ही चला गया था। बस वही उससे अन्तिम मिलना हुआ था।

राजू, सच कहता हूँ शायद भगवान् की लीला कैसे भी समझ में आजाये पर इस दुष्ट ग्वाल-पुत्र की लीला समझ में नहीं आती।"

कहते-कहते न जाने किसकी मंगल कामना के हेतु से भइया ने दोनों हाथ जोड़कर चुपचाप माथे से लगा लिये।

फिर बड़े भइया तो करवट लेकर थोड़ी ही देर में सो गये पर राजेन्द्र को कैसे भी नींद नहीं आई। वह पड़ा पड़ा आत्मग्लानि और पश्चाताप की आग में जलने लगा।

सोचने लगा—मेरे ही कारण मेरे देवतास्वरूप भइया कैसे-कैसे क्लेश सहते रहे और मैं आज तक सब कुछ उनसे छिपाता आरहा हूँ।

मेरी इस कल्पित शादी को लेकर एक शब्द मुंह से नहीं निकाला। यहाँ तक नही पूछा—कब, कैसे विवाह हुआ ? कितना विश्वास है। पर जिस दिन जानेंगे कि वह अनब्याही आन-जात की कन्या ही उस तरह रात्रि के एकान्त में मेरे बिछौने पर पड़ी थी—तब ?

और जब सुनेंगे कि खेत में जिसके सिर पर वे तरबूज उठाकर पटक देना चाहते थे, जो चोरी के अपराध में कारावास का दण्ड भोग रहा है, सो चोर वह नहीं चोर उसका छोटा भाई ही है। उसने तो जाकर हमारे वंश की नाक बचा ली है। हमारे अपयश की कालिख धाने के लिए ही अपने माथे पर कलंक का टीका लगा लिया है। तब क्या होगा ?

चोरी मैंने की थी और वह भी किसी वेश्या के प्रेम में पड़कर—हा हन्त !

भइया के पैरों पर माथा टेक कर सब स्वीकार कर लूं ? जब खंजन को चोर मानकर भी उसकी मुक्ति के लिए भगवान से विनती कर सकते हैं तो क्या मुझे क्षमा नहीं करोगे ?

तभी उसके अन्दर से कोई पुकार उठा—नहीं ! नहीं !! एक माँ के पेट से जन्म लेने वाले भाई के इन कुकृत्यों को सुनकर भइया टूट जाएँगे। तब भगवान् के चरणों में सिर पटक-पटक कर प्राण दे देंगे !"

नहीं, वह इस बारे में भइया से एक शब्द भी नहीं कहेगा। फिर उसने दोनों हथेलियों से अपना मुंह भींच लिया और सारी रात बिछौने पर छटपटाता पड़ा रहा।

× × × ×

अभी अच्छी तरह सवेरा नहीं हुआ था तभी भइया वहाँ से जाने के लिए तैयार हो गये। पास ही बंधा हुआ बिस्तर पड़ा था। वे बोले—

"राजू, मैं तेरे लिए कुछ भी तो नहीं कर पाया।"

न जाने क्या सोचते-सोचते चुपचाप खड़े रहे। फिर बोले—"अच्छा, बहू को मेरी आशीष कह देना। अब उठने मे उसे कष्ट होगा। रात को भी देर से सोई है।" कहते-कहते वे उसी बंधे बिस्तर पर बैठ गये।

कुछ देर खिड़की से बाहर आकाश की ओर देखते रहे फिर बोले—"राजू ! तेरे पास कुछ रुपये होंगे। मैं जाते ही भेज दूंगा।"

सुन कर न जाने क्यों राजेंद्र को रुलाई आ गई। बक्स से निकाल कर पिछले मास के पचास पचपन रुपये भइया को लाकर दे दिये।

भइया बोले—"राजू, गाड़ी का समय हो गया है। तू जा के जरा बहू को तो बुला ला।"

सुनकर उसके प्राण कांप गये। भइया कृत्रिम क्रोध भरे स्वर में बोले—"दुष्ट ! देर हो रही है। जल्दी कर।"

राजेन्द्र जैसे तैसे मनामनू कर झीनी को ले आया। वह बड़ा सा

Library Sri Pratap College

घूंघट काढ़े लाज के मारे सिमटती सकुचाती कमरे में खड़ी थी। भइया उसके पास आ खड़े हुए।

न जाने क्या सोच कर भइया का गला रुंध आया फिर भारी भर्राये गले से बोले—"राजू, इस साल जब लड़कियों के अचानक वर मिल गये। सकुशल व्याह हो गये। उस बड़े अपयश से भी सहसा मुक्ति मिल गई और इधर काशी में अध्यापन कार्य मिल गया तो सोचता था कि भाग्य के ये द्वार कैसे एक के बाद एक खुलते जा रहे हैं और आज अपनी इस बहू को देखकर लगता है इस सुलक्ष्मी के घर में आने से, इसी के पुन्य प्रताप से मेरा उद्धार हो गया।

सुनकर राजेन्द्र और झीनी के अन्दर ही अन्दर मारे आत्मग्लानि के न जाने कैसी उथल-पुथल सी मचने लगी। तभी भइया बोले—

"बहू, तुम साक्षात ही लक्ष्मी हो ! तुम्हारा नाम चाहे कुछ हो आज से मैं तुम्हें 'राज लक्ष्मी' कहकर ही पुकारा करूंगा।

अच्छा, अब देर हो रही है मैं चलता हूं ! ये कुछ रुपये हैं, अपने पास रख लो—कुछ बनवा लेना। तुम्हारे हाथ-पैरों में कुछ भी तो नहीं है। इस दुष्ट का अपना ही क्या कम खर्च है।" कहते-कहते उसके सामने रुपयों वाला हाथ पसार दिया। झीनी ने वे रुपये ले लिये। और झुक कर उनके चरणों की पग-धूलि लेकर माथे से लगाली।

भइया ने उसके सिर पर हाथ रखकर आंखें बन्द कर लीं। फिर आंखें बन्द किये ही बोले—"बहू, तुम्हारा सुहाग अमर हो यही अपने प्रभु के चरणों में मेरी विनती है। अच्छा अब चलता हूँ। बहुत देर हो गई।"

कहते-कहते वे चलने लगे फिर जाते-जाते कुछ सोचकर रुक गये और बोले—"राज लक्ष्मी, तुम्हारे हाथ का बना भोजन बिना खाये जा रहा हूं। इसका दुःख कुछ कम नहीं है। यह दुष्ट राजू जानता है कि तुम्हारा यह जेठ अच्छे खाने पीने का कितना बड़ा लोभी है। कभी सुघड़ी लोटी तो कम कष्ट नहीं दूंगा सो मत भूलना।" कहते-कहते वे

सीढ़ियों से उतर गये ग्रौर स्टेशन तक छोड़ने राजेन्द्र भी उनके साथ चला गया।

भइया ग्रौर राजेन्द्र जब वहां से चले गये तो झीनी धप से जहाँ की तहां सिर झुकाये बैठ गई। उसका रोम रोम न जाने कैसी मर्मान्तिक ग्रात्मग्लानि से भर उठा।

एक ही बात सैंकड़ों रूप धारण कर-कर के उसके मन में चक्कर काटने लगी कि—

यह सब ग्रचानक कैसे घट गया ? यह हुग्रा क्या ? ग्रभी-ग्रभी उसका जेठ बनकर जो देवता पुरुष जेवर बनवा लेने के लिए उसके हाथ में कुछ रुपये रख गया है, जो सिर पर हाथ रखके उसे ग्रमर सुहाग का ग्राशीर्वाद दे गया है सो उसका क्या होगा ?

क्यों इस लज्जाजनक नाटक में वह चुपचाप डाक्टर बाबू का साथ देती रही ? डाक्टर बाबू ने सब साफ-साफ क्यों नहीं कह दिया ?

तभी उसका ग्रन्तर्यामी बोल उठा—"ग्ररी ग्रो निर्लज्ज ! इतनी रात गये किसी पुरुष के एकान्त कमरे में जो तू उसके पैरों पर माथा टेके पड़ी थी सो उसे देख कर लोग क्या समझेंगे ? बिना पति-पत्नी हुए क्या ऐसा व्यवहार कोई ग्रापस में कर पाता है ? डाक्टर बाबू कैसे कह देते सब साफ-साफ ?"

तब मारे लाज के वह भीतर ही भीतर पानी-पानी हो गई। स्वप्नाविष्ट सी उसी जगह धरती पर ग्रौंधी पड़ गई।

उसके भीतर ही भीतर एक मीठी सी हिलोर उठी। हृदय की धड़कन तेज हो गई। लगा जैसे शरीर की सारी नसें बार-बार झनझना उठती हैं।

सोचने लगी—कहीं यह सब ऐसा ही सच होता ! ग्रौर तभी उसे ग्रपनी दिदिया का स्मरण हो ग्राया वे ग्रपने हाथ से उसकी मांग में सुहाग का सिंदूर भरना चाहती थीं। याद ग्राते ही झीनी के समस्त चेहरे पर न जाने कैसी मलिन छाया तैर गई।

उसकी आँखें छलछला आईं—उसका रोम-रोम पुकार उठा—

भगवान ! मैं सब सह लूंगी। मुझे कुछ नहीं चाहियें। नहीं—कुछ नहीं—बस ! तुम मेरी दिदिया को लौटा दो—फिर "दि....दि....या !" कहते-कहते उसने अपना माथा जोर से धरती पर पटक दिया।

२०

उस दिन रामी दालान में बिछी दरी पर बहुत देर तक अचेत पड़ी रही। जब उठी तो फिर वही विद्रोह प्रतिहिंसा के अंधड़ रह-रहकर उसके भीतर ही भीतर जाग उठे।

कुछ देर पत्थर की गढ़ी मूर्ति की तरह बैठी रही। इस गंगासागर बस्ती में आने के बाद दिन रात के लज्जाजनक अपमान-उपेक्षा से जो विष बूंद-बूंद करके उसकी नसों में इकट्ठा होता आया है सो अचानक उफन-उफनकर उसके रोम-रोम को जला उठा।

वह विक्षिप्त-सी दांत पीसती उठी और इस तरह अचानक घर छोड़कर चले जाने से भविष्य में घट सकने वाली भली-बुरी बातों की तनिक भी चिन्ता किये बिना अपनी झोंपड़ी त्याग कर चल पड़ी।

× × ×

जो लोग अपनी बदनामी के डर से किसी दिन उसकी मां को काशी में ले जाकर द्वार-द्वार भटकने के लिए छोड़ आये थे, मानव जाति में अपने को सिरमौर समझने वाले उन्हीं ब्राह्मणों की नाक काटने वह आगरे की ओर जाने वाली गाड़ी में बैठी चली जा रही थी।

वह गाड़ी पैंसिजर न होकर डाक गाड़ी थी। छोटे मोटे स्टेशनों पर बिना रुके सीटी बजाती आकाश में धुएं के काले अजगर उगलती, घड़घड़ाती दौड़ी चली जा रही थी। तब शुल्क पक्ष चल रहा था सो चारों ओर उजियाली फैली हुई थी।

रामी खिड़की पर ठोड़ी टिकाये बैठी थी। खिड़की के सामने

दिखाई पड़ते नद-नदी मैदान पर्वत और घने वृक्षों की काली पंक्तियां देखती चली जा रही थी।

चारों ओर बिखरी उस फीकी चांदनी को देख-देखकर रामी को पिछली रात की अपनी रसभरी चांदनी रात याद हो आई—

डाक्टर बाबू उसे अपने हाथों में उठाकर बाहर आंगन में ले गये थे, फिर दोनों हथेलियों के बीच सिर लेकर, उसकी आंखों में आंखें डालकर डूबे-डूबे बोले थे—"रामी! इससे बड़ा सुख दुनिया में क्या और भी कुछ होता है ?"

फिर थोड़ा ही देर बाद उनके मन में अविश्वास जागा था। क्रोध और घृणा से कांपते बोले थे—"रामी! मुझे उस हवा से भी घृणा.... ।" याद आते ही रामी की आंखें भर आईं।

उसे लगा कि जिन्हें छोड़कर वह अचानक भाग आई है, वे सब मृत हैं—पत्थर के पुतले—कोई किसी के लिए आकुल नहीं—सब अपने अपने लिए जी रहे हैं।

गाड़ी में भीड़ नहीं थी। सारी बेंच खाली पड़ी थी। इसी तरह सोचती-विचारती खिड़की से हटकर वह लेट गई, और फिर न जाने कब उसकी आंखें झपक गईं।

जब गाड़ी एक धक्के के साथ बिजली की पंक्तियों से जगमगाते किसी स्टेशन पर रुक गई तो उसे ध्यान आया कि आगरा जाने के लिए इसी स्टेशन पर उसे दूसरी पैसिंजर पकड़नी होगी।

जब डाक गाड़ी छोडकर वह प्लेटफार्म पर जा खड़ी हुई तो उसने जिसे अचानक उस प्लेटफार्म पर देखा सो देखते ही उसके प्राण निकल गये।

• उसे लगा जैसे कोई भयंकर डरावना अजगर मुंह फाड़े उसके सामने आ खड़ा हुआ है। वही काले खुतरे चेहरे पर बड़ी-बड़ी मूंछें—गड्ढों में चमकती आंखें। उसका वही राक्षस बापू कुछ दूरी पर इधर-उधर कुछ खोजता खड़ा था।

रामी ने सोचा—बच गई! वह अचानक पीठ फेर विपरीत दिशा में जाकर भीड़ में छिप गई और थोड़ी ही देर में पूछताछ करके लुकती-छिपती आगरे की ओर जाने वाली पैंसिजर में जा बैठी।

मन ही मन कुशल मनाती बार-बार अपने अन्तर्यामी को पुकार-पुकार कर कहने लगी—"भगवान्! तुमने बचा लिया, इस परदेश में देख लेता तो न जाने यह नीच क्या करता।"

पर रामी, तुम्हें कौन बताये कि रेगिस्तानी सर्प की सी जो दो चमकती मटमैली आंखें अपने शिकार पर आंखें गड़ाये इतनी दूर से चली आ रही हैं सो उनसे कैसे बचा जा सकता है?

रामी उस पैंसिजर गाड़ी में ऊपर से शान्त बैठी है पर अन्दर ही अन्दर जो मथ रहा है सो उसका भी कोई ठिकाना है? न जाने कहां-कहां उसका मन उड़ जाता है।

सहसा उसके अन्दर ही अन्दर आशंका की एक काली रेखा धीरे-धीरे उभरती आकाश तक छागई। छोटे डाक्टर बाबू और झीनी के चेहरे साथ-साथ उसके सामने आने लगे।

सोचने लगी—जैसी मेरे साथ बीती है वैसी ही झीनी के साथ भी........तो........उसका शरीर भी तो ऐसे ही अन्न-पानी से पला है........तो........अब? ....नहीं........नहीं.... ...वह ऐसा नहीं होने देगी........कभी नहीं........वह अगले स्टेशन पर ही उतर जाएगी........ वह आगे नहीं जायेगी........वह घर लौटेगी........

सोचते-सोचते डाक्टर बाबू के प्रति मारे घृणा और क्षोभ के उसका खून खोलने लगा, उसकी मुठ्ठियां बार-बार बंधकर खुल जाती हैं।

वह आंखें बन्द किये खिड़की पर ठोड़ी टिकाये चुपचाप बैठी थी। उसका मन झीनी तक पहुंच जाने के लिए छटपटाने लगा। सोचने लगी—कब झीनी के पास पहुंचे और कब छाती से चिपटाकर उसे रात वाली सारी बात साफ-साफ बता पाये। उसे अच्छी तरह समझा दे कि ऐसे अविश्वासी आदमी पर कभी भरोसा नहीं करना चाहिये।

उसने अनुभव किया जैसे भीनी के गले में बाहें उलझाये अपने आंगन में लेटी है और धीरे-धीरे सब बातें उसे समझा रही है। तभी गाड़ी की चाल धीमी पड़ गई और फिर एक धक्के के साथ किसी स्टेशन पर रुक गई।

रामी के पास कुछ भी सामान नहीं था। थोड़े से पैसे बचे थे, वही धोती के छोर में बंधे थे। वह उस स्टेशन पर उतर गई।

पूछताछ करने पर उसे पता चला कि उसने वहां उतरकर गलती की है। उसे वहां नहीं उतरना चाहिये था। इस स्टेशन से अगले दिन शाम को उसके घर की ओर गाड़ी जाएगी पर अगले स्टेशन आगरे से सुबह नौ बजे ही किसी दूसरी लाइन से एक डाकगाड़ी सीधी उसके घर की ओर जाती है।

किसी ने बताया कि—कल सवेरे सात बजे वहां से एक गाड़ी मिलेगी। उससे जाकर आगरे में नौ की डाक पकड़ सकती है।

सुबह की गाड़ी पकड़ने के लिए रामी उस छोटे-से स्टेशन पर एक ओर जा बैठी। रात का एक बजा होगा। थोड़े-से यात्री गाड़ी से उतरे थे। सो धीरे-धीरे सब वहां से चले गये। चारों ओर सन्नाटा था। ठण्डी हवा चल रही थी। ठण्ड के मारे उसकी बतीसी बार-बार कांप उठती है। चांद छिप चुका था सो चारों ओर अंधियारा था। उस अंधियारे में न जाने क्यों उसे डर सा लगने लगा।

दो दिन से पानी पी-पी कर ही तो पेट भरती आई है। अब भूख और शीत के मारे उसे बार-बार उबकाई सी आने लगी।

तभी एक चाय वाला सामने आ खड़ा हुआ। वह बोली—"भइया एक कुल्हड़ चाय का क्या लेते हो ?"

"एक आना माई जी !"

सुनकर उसने साड़ी के छोर से खोल कर एक आना उसके सामने धरती पर रख दिया।

चाय वाले ने माटी का छोटा सा सिकोरा भर कर उसकी ओर

बढ़ा दिया। रामी ने चाय के उस सिकोरे को ठण्ड के मारे नीले हुये होंठों से लगा लिया।

रामी जहां बैठी चाय पी रही थी, वहीं एक खम्भे पर विजली की बत्ती जल रही थी। उसका सीधा प्रकाश रामी के चेहरे पर पड़ रहा था।

वह चाय वाला चाय का सिकोरा देकर जब चलने लगा तो न जाने क्या देखकर जात-जाते ठिठक गया। कुछ देर चुपचाप खड़ा रहा फिर बोला—

"टिकट है तुम्हारे पास ?"

"नहीं भइया. टिकट तो नहीं हैं।"

सुनकर चाय वाला लौट आया। चाय का बर्तन और माटी के सिकोरों की टोकरी एक ओर रखकर रामी के बिल्कुल पास आ बैठा। धीरे-धीरे कण्ठ में मिठास भर कर बोला—

"टिकट नहीं है तो कैसे चलेगा ? यहां स्टेशन का बाबू बड़ा जालिम है। टिकट न मिलने पर सीधा पुलिसकोतवाली भेज देता है।

सुनते ही मुंह में आई चाय का घूंट जैसे तैसे पीकर उसने ऐसा मुंह बनाया जैसे कड़वी दवा पी गई हो। घबराती-सी बोली—

"अब मैं क्या करूं ?"

सुनकर उसके ओंठों पर दुष्टतापूर्ण मुसकान बिखर गई।" बोला—
"आई कहां से हो ? तुम्हारे साथ कोई नहीं है ? खैर, तुम चिन्ता मत करो में तुम्हारी मदद करूंगा।"

"हां भइया ! मैं बड़ी मुसीबत में हूं।"

सुनकर वह धीरे-धीरे अपनी गर्दन खुजलाता मुसकाता बोला—

"तुम मेरी सिकोरों की डलिया थाम लो। स्टेशन का बाबू कुछ पूछे तो बोलना नहीं। घूंघट काढ़ के मेरे पीछे-पीछे आ जाओ। मैं तुम्हें बाहर निकाल ले चलूंगा।"

जब स्टेशन के प्रवेश द्वार से दोनों निकले तो स्टेशन का बाबू बोला—

"यह कौन है ? इसका टिकट !"

"सरकार मेरी बहू है !"

सुनकर रामी कांप गई।

"तो इसे यहां क्यों लाया !"

"स्टेशन देखना चाहती थी।"

"अच्छा निकल बाहर ! ।"

बाहर पहुंचकर वह चाय वाला बोला—"न हो तो मेरे घर ही चली चलो। घर में बाल बच्चे हैं। आराम रहेगा।"

"नहीं भइया ! अब ज्यादा दुःख नहीं दूंगी।"

"अच्छा तो इस मुसाफिर खाने में जाकर लेट जाओ। डर की कोई बात नहीं। पास ही पुलिस चौकी है। आराम से सोना।" कहते-कहते उसकी पुतलियों पर कुछ ऐसा तैर गया जैसा नदी किनारे पानी पीती हिरनी को पकड़ कर निगल जाने से पूर्व मगर की आंखों में तैर जाता है।

२१

आगरे के पास वाली, उस छोटे-सी स्टेशन पर चाय बेचते उस दुष्ट मंगतू को लगभग दो वर्ष बीत गये हैं। उससे पूर्व अपने विगत जीवन में न जाने किस-किस घाट का उसने पानी पिया है; किन्तु नारी का ऐसा रूप उसने कभी नहीं देखा, न कभी किसी से सुना ही था।

वह मुसाफिर खाने की सीढ़ियों से उतर कर सामने खड़े नीम के पेड़ से सटकर खड़ा हो गया। वहां खड़ा-खड़ा मुसाफिर खाने की ओर देखता—सोचने लगा—

रात की अँधियारी—चारों ओर सन्नाटा—और वहां पड़ी है रूप की जगमगाती परी—उस औरत के रूप का नशा क्यों मेरी नस-नस में समा गया है? पास ही कोतवाली है। कहीं चीख पड़ी तो? तो क्या दरोगाजी जान पहिचान के हैं फिर भी—नहीं—

उधर जाने की किसी भी तरह उसकी हिम्मत नहीं हो रही थी। तभी पीछे से किसी ने भर्राई आवाज में कहा—'क्या है भाई?" कहता-कहता वह पास आ खड़ा हुआ। उसके मुंह से शराब की बदबू आ रही थी।

मंगतू बोला—"तुम कौन हो?"

'यह भी कुछ पूछने की बात है? तुम बताओ मन में क्या है? बोलो! चाहिये?"

"पर तुम हो कौन?"

"मैं इसका बाप हूँ। तुम जानो भाई कैसा बुरा जमाना है। कहीं काम काज नहीं लगता। कहते शर्म आती है। पर गरीबी में सब करना

पड़ता है। यह लड़की मानती ही नहीं—नाराज हो कर घर से भाग आई है। बस दो बीसी गिन दो और अपना काम करो। चीखी पुकारी तो मैं सम्भाल लूंगा। फिर स्टेशन के बड़े बाबू के सामने तो अभी-अभी मान ही गई है कि तेरी वहू है। डर काहे का है ?"

× × × ×

थोड़ी ही देर बाद उस मुसाफिर खाने से किसी का चीत्कार सुनाई पड़ा फिर बार-बार चीखने पुकारने की आवाजें आने लगीं।

रूप का वैसा नशा शायद कभी किसी को इस धरती पर उससे पूर्व नहीं हुआ होगा। और इससे बड़ी निर्लज्जता भी शायद कभी किसी ने अपनी आंखों से न देखी होगी।

मुसाफिरखाने में भाग-भागकर आये कई लोगों ने उस मंगतू से रामी को छुड़ाना चाहा पर पर कनखजूरे की भांति अपने सारे विषैले पंजे रामी की चमड़ी में गढ़ाकर वह ऐसा चिपटा कि छुटाये नहीं छूटा।

तभी पास की पुलिस चोकी से दो सिपाही टॉर्च चमकाते आ पहुँचे और टॉर्च के प्रकाश में वहां खड़े नर-नारियों ने जो कुछ देखा सो देखकर मारे शर्म संकोच के सब धरती में गढ़ गये।

रामी के कपड़े फट गये थे। वह अधनंगी धरती पर पड़ी उस चाय वाले मंगतू से छुटकारा पा लेने के लिए चीखती-पुकारती छटपटा रही थी।

कहते हैं—कनखजूरा अपने समस्त परों को चमड़ी में चुभो कर आ चिपटे तो कोई उसका तिल-तिल काट डाले पर वह छूटता नहीं। उसको छुड़ाने का बस एक ही उपाय है कि उसकी पीठ पर जलती आग छुआ दो।

सो, जैसे ही पुलिस के जूतों की ठोकर उसकी पीठ पर पड़ी कि वह चाय वाला हांफता-हांफता अलग जा पड़ा। पुलिस के जूतों ने सचमुच ही उस कनखजूरे की पीठ पर आग का काम किया था।

सिपाही उन दोनों को पकड़कर पुलिस चोकी पर ले गये वहां

इकट्ठे हुये लोग उसी घटना को लेकर तरह-तरह की टीका-टिप्पणी करते वहाँ से चले गये।

पुलिस चौकी के इंचार्ज दारोगा जी उस जाड़े की रात में लिहाफ से अपने भारी भरकम शरीर का इंच-इंच दवाये गहरी नींद में सुखपूर्वक सो रहे थे।

उन्हें जगाकर जब सिपाहियों ने इस घटना की बात सुनाई तो उन्होंने जमुआई लेकर चुटकी बजाते-बजाते सिपाहियों को हुक्म दिया—

"अभी अलग-अलग जनाना मर्दाना हवालात में दोनों को बन्द कर दो। सुबह देखा जायेगा।" कहते-कहते लिहाफ में मुंह लपेटकर सोने की कोशिश करने लगे।

माना कि दारोगा जी को हमारी सरकार ने कुछ सिपाहियों के साथ उस चौकी पर इसीलिए रक्खा हुआ है कि कामिनी-कांचन के ऐसे परम भक्तों पर वे निगाह रक्खें पर धरती की इस धर्म निरपेक्ष प्रजातन्त्री सरकार से भी ऊपर जो एकतन्त्री सरकार है और जिसके अधिपति ने इस भारी भरकम शरीर की जागीर उन्हें बख्शी है, सो उस जागीर के प्रति क्या उनका कुछ भी कर्त्तव्य नहीं है?

इस वात को चाहे कोई माने या न माने पर दारोगा जी अपने इस कर्त्तव्य को भली-भांति पहिचानते हैं। इसीलिए कहीं कितनी ही बड़ी दुर्नीति हो जावे पर वे भगवान् के भक्त उस सृष्टिकर्त्ता की दी हुई काया को कष्ट देने की भूल कभी नहीं करते। ऐसी भूल को वे सदा 'अधर्म' मानकर ही चलते हैं।

उस काया को नींद की गोद में सुलाये आधा घंटा बीता होगा कि बाहर से किसी का अनुनय भरा कंठ-स्वर सुनाई पड़ा—

"दारोगा जी!"

"............।"

"साहब!"

"............।"

"दारोगा जी!"

तभी दारोगा जी ने गुस्से से तमतमाता अपना लाल मुंह लिहाफ से बाहर निकाला। बाहर द्वार पर दोनों सिपाहियों के बीच रूप का अनन्य पुजारी वह चाय वाला खड़ा था।

दारोगा जी ने चिर-परिचित अपनी अर्थभरी दृष्टि से सिपाहियों की ओर देखा। एक सिपाही आगे बढ़ा। उनके कानों के पास जाकर कुछ फुसफुसाकर पीछे हट गया।

सुनकर दारोगा जी के फैले हुये होंठ और अधिक फैल गये। फिर एक आंख से न जाने कैसा संकेत किया कि जिसे देखकर सिपाही उस प्रेमवीर मंगतू को लेकर वहां से चले आये।

उधर रामी हवालात के कोने में उस बकरी की तरह दुबकी बैठी थी जो थोड़ी ही देर पहिले किसी भयानक भेड़िये के मुंह से बचकर निकल भागी हो। मन ही मन सोच रही थी—"नाथ! तुमने एक बार फिर बचा लिया।" सोचते-सोचते उसका रोम-रोम प्रार्थना से भर उठा।

पर रामी, तुम्हारी इस देह के लोभी कैसे-कैसे हिंसक जन्तु अपनी जीभ से लार टपकाते तुम्हारे चारों ओर घूम रहे हैं, सो तुम नहीं जानती। ऐसे चीते-बघेरे कि जिन्हें तुम्हारे खून की चाट लग गई है।

रामी! आज तुझे कौन बताये कि तू वह अभागी कपिला गाय है जिसके संरक्षक किसान ने कुछ 'खर्र खर्र' बोलते कागज के टुकड़ों के बदले अपने ही हाथों से खूंटे से छोड़कर उसकी रस्सी किसी कसाई के हाथों में थमा दी है।

चारो ओर सन्नाटा था। तभी न जाने कहां से चीत्कार-सा करती एक टिटहरी उस जनानी हवालात के ऊपर से उड़ गई।

उस चीत्कार को सुनकर न जाने क्यों रामी कांप गई। तभी उसके कानों ने सुना कि कोई उसका नाम ले-लेकर धीरे-धीरे पुकार रहा है। उसने हवालात के सीखचों से बाहर एक काली-सी छाया को खड़े देखा।

क्षण भर में रामी ने उस कण्ठ-स्वर को पहिचान लिया। वही बापू धीरे-धीरे पुकार रहा था—

"रामी! रामी!!"

सुनकर रामी के प्राण सूख गये। वह बोला—"रामी! अब भी मान जा। बोल, दारोगा को कुछ दे दिलाकर छुड़ा लूं। मेरे साथ घर लौट चल। बड़े डाक्टर बाबू को खुश रखना। दो सौ रुपये महीना मिलेगा और खाना-पीना अलग। बोल, कहूं जाकर दारोगा जी से।"

"............।"

"रामी!"

"............।"

"रामी!"

रामी के उस बापू और उसके अन्तर्यामी के सिवा कोई इस धरती पर नहीं जानता कि क्यों वह चोट खाये काले नाग की तरह इस रामी के पीछे पड़ गया है? इस तरह उसे दुःख देकर वह किस जन्म का बदला ले रहा है? इस तरह दुःख में पड़ी रामी को देखकर क्यों उसको शान्ति-सी मिलती है? रामी के शरीर में दाँत गड़ाकर एक बारगी सारा विष उड़ेल कर शान्त क्यों नहीं हो जाता? क्यों बार-बार जीभ लपलपाता फन उठाये उसके सामने आ खड़ा होता है? पर इस रहस्य को कोई नहीं जानता।

वह बापू हवालात के सीखचों को पकड़े सोच रहा था—किसी तरह एक बार इसे राह पर ले आता फिर घर ले जाकर इसी के सहारे झीनी पर भी काबू पा लेता। और तब—तब—उन दोनों की लाज बाजार में बिकते देखकर उसकी आत्मा चैन पाती। कितने साल बीत गये। दिन-रात बदले की आग में जलता आरहा हूं। एक पल को चैन नहीं मिला, पर आज—आज बिना डसे नहीं छोड़ूंगा। पहिले डसेगा वह वासुकी नाग—मँगतू और फिर मैं।

× × ×

थोड़ी देर बाद पुलिस चौकी की उस जनानी हवालात में से रह-रह कर कर्णभेदी चीत्कार सुनाई पड़ने लगा।

ज़रा-सी देर में फिर हवालात के सामने लोगों की भीड़ इकट्ठी होगई और सबके देखते-देखते खुले ग्राम न्याय शान्ति की जिम्मेवार पुलिस के संरक्षण में चाय वाला मंगतू उस असहाय रामी के साथ ऐसा निर्लज्ज खेल खेलने लगा कि जिसे देखकर लाज भी लाज से मुंह छिपाती धरती में गढ़ गई।

इस लेखक साले ने साफ क्यों नही लिखा क्या खेला खेला।. — 108 I.T.D.C

परम्परा

यही है हमारा आज का समाज ! जहाँ हम छोटी-बड़ी सभी बातों को परम्परा की रंगीन ऐनक से ही देख पाते हैं। हमारी राजनीति, साहित्य रचना, भक्तिभाव सभी के पीछे होता है—वही परम्परा का मोह !

२२

कहते हैं किसी महाभारत काल में सभा के बीच महारानी द्रौपदी को बुलाकर कौरवों ने उन्हें वस्त्रहीन करने का प्रयत्न किया था। पर भक्तवत्सल भगवान् कृष्ण ने अलौकिक चमत्कार से बीच में पड़कर अपने सखा पांडवों की उस महारानी को बचा लिया था।

पर रामी को कोई भी न बचा सका। रामी चीखती रही—पुकारती रही किन्तु उन भक्तवत्सल, दीनन—हितकारी भगवान् कृष्ण के कानों तक किसी भी प्रकार उस गरीब की भनक तक नहीं पहुँची।

कौन जाने सर्वशक्तिमान भगवान् से भी ऐसी भूल क्यों हो गई ? शायद इसलिए कि इस रिश्वती युग में उस सृष्टिकर्त्ता का स्वभाव भी कुछ-कुछ बदल गया है। कल के अपरिग्रही त्यागी कांग्रेसी नेताओं तक का मोटर, बंगलों के प्रति अति लोभ देखकर भगवान् का स्वभाव बदल जाने की इस बात में अविश्वास तो नहीं होना चाहिये।

रामी द्रौपदी की भाँति किसी देश की महारानी नहीं थी न दारोगा जी को रिश्वत देने के लिए उसकी फटी साड़ी के छोर में रुपयों की बंधी बड़ी गाँठ थी। वह थी घर-घर जाकर झाड़ू-बुहारी देने वाली गरीब मजदूरनी !

शायद इसीलिए उस अभागी रामी के साथ इस धरती पर इतना बड़ा अकथ अनर्थ होता रहा और आकाश में भगवान् के साथ बैठे तैंतीस करोड़ देवता तक उस अनीति को चुपचाप देखते रहे। किसी ने चूं तक नहीं की। नहीं तो कभी ऐसा हुआ है ? इस नीतिवान कांग्रेसी

सरकार में ऐसी अनीति होने पाती ? असल में सब दोष है उसी भगवान् का या उनके वरद पुत्र कागजी नोटों का।

कुछ देर रामी नारी की उस लाज को बचाने के लिए प्राण-पण से हाथ-पैर पटकती रही जिसे बचाने के लिए इस देश की सहस्रों नारियाँ कई बार झुंड की झुंड जीवित आग में जल मरी थीं।

रामी जब किसी भी तरह अपनी उस लाज को न बचा पायी तो मारे दुःख और क्षोभ के अचेत होगई। उसको वही पुराना मिर्गी का दौरा आगया। पुतलियाँ पलट गईं और शरीर काँप उठा। मुँह से बुलबुले निकल-निकल कर बाहर की ओर आने लगे। रात की अँधियारी में उस चाय वाले ने समझा कि अन्त में रामी ने अपना सब कुछ उसे समर्पित कर दिया है।

दूसरे दिन यह खबर उड़ती-उड़ती पड़ोसी बड़े शहर आगरे में पहुँची। छापखाने में कम्पोज होकर देश के समाचारपत्रों में प्रकाशित होगई। पर इतने बड़े जघन्य एवं लज्जाजनक कुकृत्य को लेकर समाज के शान्त जलाशय में छोटी-सी कंकड़ी पड़ जाने जैसी हलचल तक नहीं हुई।

राजनैतिक नेताओं के अनर्गल प्रलाप और सिनेमा जगत् के तारे-तारिकाओं के खाँसने छींकने तक की खबर पर कॉलम की कॉलम टिप्पणियाँ लिखने वाले किसी अखबार ने इस इतनी बड़ी घटना के लिए रामी की सहानुभूति में दो शब्द लिखने की आवश्यकता नहीं समझी।

शहनशाह शाहजहाँ और उनकी मल्का मुमताज महल के अमर प्रेम की याद में खड़े किये गये आगरे के ताजमहल को देखकर जिन भावुक कवियों की आँखों से आँसुओं के पनाले बह उठते हैं, जिन्होंने महलों में बसने वाली उस ताज बीबी पर भावपूर्ण खण्ड-काव्य लिखे, वे रामी की इस खबर को पढ़कर बहुत कोशिश करने पर भी अपनी भावमयी आँखों से दो बूंद आँसू तक बाहर की ओर न ठेल पाये।

जो द्रौपदी की लाज बचाने वाले भगवान् की याद कर-करके झाँझ

Library Sri R...

पखावज बजाते आनन्द विभोर हो कभी नाचते हैं, कभी सिर हिला-हिलाकर झूम उठते हैं, कभी उस भक्त-वत्सल की लीलायें याद कर-करके आंखों से सावन भादों की झड़ी लगा देते हैं, सो उस रामी के उतने बड़े संताप की बात सुनकर भी भगवान् के उन भगतों की छाती नहीं पसीजी।

यही है हमारा आज का समाज। जहां हम छोटी बड़ी सभी बातों को परम्परा की रंगीन ऐनक से ही देख पाते हैं। हमारी राजनीति, साहित्य रचना, भक्तिभाव सभी के पीछे होता है वही परम्परा का मोह!

दूसरे दिन रामी हवालात के सींकचे पकड़े खड़ी थी। कभी पुतलियां घुमाती खिखला पड़ती है, कभी फफक-फफक कर रो उठती है, कभी अपने बिखरे बालों को खींचती नोचती उन लोहे की सलाखों पर अपना माथा ज़ोर-ज़ोर से दे मारती है।

आगरे से कोई समाज सेविका उस घटना के बारे में जांच-पड़ताल करने आई। उस समाज सेविका के अचानक आ जाने पर दारोगा जी ने मँगतू और रामी के बापू के साथ बैठकर कोई गुप्त समझौता कर लिया।

इस समझौते में उस चाय वाले को चार सौ रुपये अपनी गांठ में से निकाल कर देने पड़े। दारोगा जी ने मँगतू को गरीब समझकर जैसे तैसे तीन सौ रुपया लेना स्वीकार कर लिया। उधर बापू ने भी दारोगा जी का लिहाज़ करके उनकी बात नहीं टाली और सौ रुपये लेकर समझौता कर लिया।

वे समाज सेविका जब उस घटना की जांच पड़ताल करके लौटीं तो आगरे में आकर संवाददाताओं को बताया—

इतनी भाग-दौड़ व्यर्थ ही करनी पड़ी—रामी का व्याह छः सात वर्ष पहिले उस चाय वाले से हो चुका था। रामी अपने पति के साथ

नहीं आना चाहती थी क्योंकि वह बदचलन औरत है। उसका बाप उसे जबरदस्ती अपने दामाद के घर छोड़ने आया था। और यह कि—

पुलिस के दारोगा ने पति पत्नि में समझौता कराने की भरसक कोशिश की अन्त में हारकर पुलिस ने औरत को उसके बाप के सुपुर्द कर दिया।

दूसरे दिन रामी का यह समाचार आकर्षक शीर्षकों के साथ अखबारों में प्रकाशित होगया।

रामी लगभग चौबीस घंटे तक बिना नींद लिये लगातार हँसती रोती रही. अन्त में चुप होगई। अब उससे जो कुछ भी करने को कहा जाता है वही चुपचाप करने लगती है। लगता है इन्द्रियों के जो देवता होते हैं वे उन्हें छोड़कर कहीं चले गये हैं। रामी के हाथ पैर यंत्र की तरह हिलते हैं, चलते-फिरते हैं पर जैसे रामी वहाँ है ही नहीं, शरीर छोड़कर कहीं चली गई है।

पुलिस ने रामी को उसके बापू के सुपुर्द कर दिया था। पहिले तो सात आठ दिन मंगतू ने उसे अपने घर में रक्खा। उसके बाद कुछ दिन वह बापू आगरे के किसी होटल में उसे साथ लेकर रहा।

अन्त में रामी के साथ वह आगरे के उस बाज़ार में पहुँचा जहाँ दिन-रात समाज की सड़ांद इकट्ठी होती रहती है. जहाँ बेहयाई को पौरुष और सच्चरित्रता को कापुरुषता समझा जाता है।

जहाँ दिन रात अधेड़ वेश्यायें उधर आने-जाने वालों को भद्दे इशारे से बुलाती रहती हैं। जो ऊपर से मुस्काती हैं और अन्दर ही अन्दर घिनौने जीवन को लेकर दिन-रात दर्द की टीसों से पीड़ित होती हैं पर कराह नहीं पातीं।

बापू को रामी का सौदा पटाने में अधिक देर नहीं लगी। इस प्रकार के क्रय-विक्रय करने की दक्षता को देखकर उसके मित्रों ने कई बार उसके प्रति सम्मान से सिर झुका लिया है।

उस बाज़ार की गली से जब वह बाहर निकलने लगा तो सहसा

गली के अन्दर ही रुक गया। नोटों से भरी अपनी जेब पर सावधानी से हाथ रक्खा और सोचने लगा—पूरे एक हज़ार! एक पैसा कम नहीं!! गुंडों की बस्ती है, कहीं कोई छीन न ले तो—

सब ओर गर्दन घुमाकर जाँच-पड़ताल करने लगा कि कहीं कोई चोर उचक्का पीछा तो नहीं कर रहा है। अन्त में अपने को निरापद समझकर एक हाथ से उन नोटों को दबाये सन्तोष की गहरी उसांस छोड़ता वह गली से बाहर निकला।

छाती पर नोटों को दबाये उसने जब अपने चौड़े नथुनों से उसांस छोड़ी तो लगा जैसे किसी नवजात शिशु के अधखाये शरीर को छाती से दबाये 'सुं-सूं' करता कोई घिनौना कछुआ कीचड़ से बाहर निकल आया है।

२३

आज का युग नई-नई खोजों का युग है। उस दिन विश्वविख्यात मनीषी स्व० बर्नार्ड शा ने खोज-बीन करके बताया था कि जिस जोन ऑफ आर्क के साहस की विरुदावली गाते योरुप के लोग थकते नहीं सो वह वीराङ्गना न होकर अति भीरु और डरपोक औरत थी।

हो सकता है कल कोई यह भी खोज निकाले कि हमारे शास्त्र में मन, वचन और कर्म से किसी को प्रेम करने की जो बात कही गई है सो भी उतनी सच नहीं है जैसा कि स्थान-स्थान पर कहा गया है।

शास्त्र-वाक्य में अविश्वास करके यदि पाप का भागी न बना जाये तो भी यह तो कहना ही पड़ेगा कि इस मन की गति को वश में करने के लिए जो ऋषि महात्मा जीवन भर कंकड़, पत्थरों पर सो-सोकर तप, योग आसनों द्वारा अपना खून सुखाते रहे सो जब वे भी इस अकेले मन को वश में नहीं कर पाये तब मन, वचन, कर्म जैसे तीन महारथियों पर एक-साथ काबू कर पाना आज के साधारण मनुष्य के लिए तो सचमुच ही असम्भव है।

उस दिन बड़े भइया और राजेन्द्र के स्टेशन की ओर चले जाने पर झीनो राजेन्द्र के प्रति मन में बसी प्रीति की उपेक्षा करके रुँधे कंठ से अपनी दिदिया के स्नेह, प्रेम को याद करती पुकार उठी थी—

"भगवान्! मैं सब सह लूंगी पर मेरी दिदिया को लौटा दो।"

तब वह नहीं जानती थी कि सदा मन के पंखों से उड़ने वाले मनुष्य के इस प्रेम की गति का भी कोई ठिकाना नहीं है कि कब उड़कर आकाश को छूने लगे और कब फड़फड़ाता औंधे मुंह धरती पर जा पड़े।

दिदिया के प्रति रहा उसका प्रेम भी जंगल में होकर जाने वाली उस पगडंडी की तरह धुंधला हो उठा जो बहुत दिनों तक उस ओर आने-जाने वाले पथिकों के दर्शन न पाने से घास फूंस से अवरुद्ध हो उठती है।

जब बहुत समय तक उसकी दिदिया का समाचार नहीं मिला तो धीरे-धीरे दिदिया और उसके प्रति रही श्रद्धा भी धुंधली हो-होकर विस्मृत होने लगी और एक दिन जिसके प्रेम की उपेक्षा करके दिदिया को पा जाना चाहा था उसी राजेन्द्र के प्रति उसका स्नेह शुक्लपक्ष के समुद्री ज्वार की भाँति हहराता बढ़ने लगा।

झीनी के मन को लेकर शास्त्र-वाक्य की दुहाई दे-देकर दाँत किटकिटाने से कुछ न होगा। सुनने और पढ़ने में चाहे कितना कड़वा लगे पर मनुष्य के जीवन मे होता सदा यही है, और आज तक यही होता आया है—होता रहेगा।

उधर राजेन्द्र के मन की भी कुछ ऐसी ही स्थिति है। उसे पता ही न चला कि रामी की जिस सुन्दर मूर्ति को किसी दिन उसने अपने मन-मन्दिर में स्नेहपूर्वक बिठा लिया था सो उसके स्थान पर कब कैसे झीनी की प्रतिमा प्रस्थापित हो चुकी है।

राजेन्द्र जब अपने कमरे में होता है तो झीनी को अपनी झोपड़ी में बैठना अच्छा नहीं लगता। उस महाशीत में भी वह आंगन ही में खटिया पर बैठी लिखती पढ़ती रहती है। पढ़ते-पढ़ते राजेन्द्र की खिड़की की ओर न जाने क्यों बार-बार उसकी निगाह चली जाती है।

उधर राजेन्द्र जब डिस्पेंसरी में मरीजों के नाम बोलकर उन्हें दवा देता है तो कई बार अनजाने ही उसके मुंह से झीनी का नाम निकल जाता है।

झीनी और राजेन्द्र के मन में एक दूसरे के लिए दिन-रात स्नेह का जो पारावार उमड़ता रहता है सो उस बात को लेकर सारी बस्ती

में कम चर्चा नहीं रहती है पर सागर के ज्वार को आज तक कौन रोक पाया है ?

बस्ती की इस चर्चा के पीछे नीति और सदाचार की रक्षा करना ही उद्देश्य हो, सो बात नहीं है। राजेन्द्र के भाग्य से ईर्ष्या और झीनी का अप्रतिम सौन्दर्य भी इस चर्चा का विशेष कारण है।

झीनी सदा से ही सुन्दरी रही है किन्तु अब तो लगता है जैसे वैसा रूप इस धरती पर बहुत कम देखा गया है। जैसे स्वर्ग से उतरी सद्यः यौवना अप्सरा हो जो अपनी किसी भूल से शापग्रस्त हो इस भू-मंडल पर आ पड़ी है।

उसके चारों ओर रूप की ऐसी ज्वाला उद्दीप्त हो उठी है कि यदि झीनी उधर से निकल जाये तो बस्ती के संयमी जैन साधुओं की दृष्टि भी उस ओर विना उठे नहीं रहती।

एक दिन राजेन्द्र के भइया ने गलती से राजेन्द्र की वहू समझकर उसे अमर सुहाग का आशीर्वाद दिया था और वह उनके सामने चुपचाप घूंघट काढ़े खड़ी रही थी।

अब उसे लगता है जैसे वह क्षण उसके जीवन का सत्य बन गया है। उस दिन की बात को अब वह कैसे भी लज्जाजनक नाटक नहीं मान पाती।

उन्हीं दिनों एक दिन उस गंगासागर वस्ती में ऐसी घटना घट गई कि जिसपर कोई भी विश्वास नहीं कर पायेगा, पर वात सच थी। ऐसा अविश्वसनीय सत्य कि जिसे अपनी आँखों से देखकर भी विश्वास करने को मन नहीं करता।

दिन के दस बजे होंगे। राजेन्द्र डिस्पैन्सरी में बैठा नुस्खे देख-देखकर दवा बना रहा था तभी वह मटमैली आँखों वाला रेगिस्तानी सर्प रेंगता उसके कमरे में आगया। उसे देखते ही राजेन्द्र की भृकुटी चढ़ गई, पर उसने जो बात धीरे से कही सो सुनकर राजेन्द्र का चेहरा पीला पड़ गया। कुछ क्षण स्तब्ध-सा बैठा का बैठा रह गया, फिर उठा और

विना किसी से कुछ कहे सुने विक्षिप्त-सा भीनी के उस बापू के साथ हो लिया।

डोमों की उजाड़ बस्ती से थोड़ी दूर पर एक बगीचे में भीनी का स्कूल था। वह बापू उसी के पास जाकर रुक गया। बगीचे के पिछवाड़े की ओर संकेत करके बोला—"वहाँ! वहीं दोनों बैठे इश्क लड़ा रहे हैं। भीनी स्कूल का नाम लेकर घर से आती है पर लिखती पढ़ती कुछ नहीं, रोज यहीं बैठकर उस आवारे से प्रेम की सीख सीखती है।"

राजेन्द्र ने छिपकर बगीचे के पीछे एक पेड़ की आड़ से देखा। सचमुच ही उस आवारे गफूर के पास भीनी बैठी थी। देखकर उसे लगा जैसे वह बाग-बगीचा धरती-आकाश सब कुछ घूम उठा है। जिसे उसने कोड़े मार-मारकर धरती पर बिछा दिया था, जिसका नाम सुनकर उसका खून खौल उठता था सो उसी के साथ! इससे बड़ा आश्चर्य इस संसार में क्या हो सकता है?"

× × ×

वह बीकानेरी-टैक्ट विशारद डाक्टर बिना कुछ कहे राजेन्द्र के चले जाने से क्रोध में काँपता चीख रहा था—"कहाँ चला गया बीच में! अब इसे हटाना ही पड़ेगा। समझा था भले घर का लड़का है, पर नहीं—इससे काम नहीं चलेगा।"

खाँसी बुखार का मौसम है। कम्पाउण्डर की खिड़की के सामने लम्बी पंक्ति खड़ी थी। राजेन्द्र को देखते ही मरीज बोल उठे—"लो वह आगये।"

अपने उस उतने बड़े दुःख में भी राजेन्द्र चुपचाप आकर मरीजों की शीशियों में दवा बना-बनाकर उंडेलने लगा।

जब दवा लेकर सब मरीज चले गये तो छुट्टी का समय होगया था तभी डाक्टर ने पुकारा—

"राजेन्द्र बाबू!"

राजेन्द्र उनके सामने जा खड़ा हुआ। डाक्टर ने उसके चेहरे पर

ग्राँखें गड़ाकर कुछ पढ़ना चाहा पर समझ नहीं पाये। अचरज से बोले—

"आज बीच ही में कहाँ चले गये थे?"

कुछ देर वह चुप खड़ा रहा पर उसे प्रति क्षण लगने लगा कि अपने उतने बड़े दुःख की बात को चुपचाप पचा नहीं पायेगा। वह फूट पड़ा। उसने जो कुछ भी आज देखा था सो सब कुछ कह सुनाया।

सुनकर डाक्टर बाबू की बाँछें खिल गईं। फिर गम्भीर होकर बोले—

'राजेन्द्र बाबू, मैंने तेल देखा है तेल की धार देखी है। फिर मैं तो बचपन से उड़ती चिड़िया पकडता आया हूँ। क्या कहा था उस दिन तुम से ? पर मानी मेरी बात ? अरे भाई, ये सब बदज़ात छोकरियाँ हैं।

तुम भले घर के लड़के हो। फिर कहता हूँ, मेरी बात मान लो और रुपये कमाओ रुपये! रुपये कमाने के कितने नुस्खे मेरे पास हैं पर तुम सुनते ही नहीं।

देखो, ये रामी झीनी एक दिन तुम्हारे हाथ में थीं। तुम चाहते तो हजारों रुपये इन्हीं से पैदा करते और खुद ऐश उड़ाते, पर मेरी बात कौन सुनता....... ।"

राजेन्द्र बोला—"मेरी तबियत ठीक नहीं है। जाकर थोड़ी देर आराम करूँगा।"

सुनकर डाक्टर साहब ठहाका मारकर हँस पड़े। बोले—

'कम्पाउण्डर साहब! इस दुनिया में ज़िन्दा रहने के लिए लोहे का दिल चाहिये—लोहे का—ज़रा से दुःख में हाथ पैर ढीला छोड़ देने से काम नहीं चलता।

आराम को मारो गोली और मेरी बात सुनो। देखो ऐसे काम नहीं चलेगा। रुपया कमाओ रुपया! फिर रामी झीनी जैसी लड़कियाँ तुम्हारे पैर धो-धोकर पियेंगी। यह झीनी आज क्यों तुमसे मुंह मोड़कर गफ़ूर के पास जा बैठी? इसीलिए न कि वह यहाँ के रईस नवाब साहब का लड़का है। भाई, फिर कहता हूँ इन छोकरियों को रुपया चाहिये!

रुपया!! पर बात तुम्हारी समझ में नहीं आती।"

कहते-कहते अपनी कुर्सी खिसकाकर राजेन्द्र का कंधा झकझोरते बोले—

"अब तुम से क्या छिपाऊँ? आज तुम्हें धन और मान कमाने का एक नुस्खा बताता हूँ। इसे कहते हैं—'हल्दी लगे न फिटकरी पर रंग चोखा आये।' जानते हो कैसे? सुनो! डोमों की बस्ती में अकेला चंदन और उसका बूढ़ा बाप बच गया था। यह स्कूल वाला बगीचा उसी का था। मेरा मन उस बगीचे पर आगया। दिन-रात सोचता था कि किसी तरह इस बगीचे को अपने कब्ज़े में कर पाऊँ। फल-फूलों से ही हज़ारों रुपये साल की आमदनी है। दो सौ तो पपीते के पेड़ हैं।

"एक दिन चंदन के बूढ़े बाप को बुलाकर खूब शराब पिलाई और बगीचा अपने नाम लिखाकर उसका अंगूठा निशानी लगवा ली। सौ रुपया देकर उसी पटवारी को गवाह बना लिया और एक ही रात में बगीचा अपने कब्ज़े में आगया।

"अब तुम कहोगे—'बुरा किया, पाप लगेगा', लेकिन मैं कहता हूँ—कौन किसका लेता है? कौन किसको देता है? सब भगवान् की मर्ज़ी है। फिर शास्त्र में भी तो माया को चलती फिरती कहा गया है।

विरागी संत कबीर ने कितना सुन्दर कहा है—

'माया महा ठगिन हम जानी।'

सो भाई यदि मुझे कोई दोष दे तो यह उसी का अज्ञान है।

"धन-दौलत हाथ में आते ही सोचने लगा—इतना सब जोड़कर भी क्यों रेगिस्तानी बबूल की तरह पड़ा रहूँ। क्यों न जीवन के इस रेगिस्तान में ऐसी वनस्थली बनाऊँ—ऐसे सुन्दर रंगीन फूल खिलाऊँ कि देखकर अपना और दूसरों का भी मन हरा हो उठे। बस, अब आई उस नुस्खे की बात कि 'हल्दी लगे न फिटकरी और रंग चोखा आये'।

"एक दिन बैठे-बैठे बस्ती के धनी-मानी लोगों की सभा बुला ली। उनके सामने बस्ती की कन्याओं को सदाचारिणी बनाने तथा उन

पुत्रियों के मम में हिन्दू संस्कृति के पुनीत भाव भरने के लिए एक कन्या पाठशाला खोलने की अपील की। सबसे पहले अपनी उसी डोमवाली बगीची में विद्यालय के लिए स्थान देने की मैंने घोषणा की। राजेन्द्र बाबू, तुरन्त ही इतना रुपया जमा होगया कि बगीची में पाठशाला बन गई और इतना रुपया बच गया कि अपनी फार्मेसी का नया भवन भी बन गया। सो भाई, इसी का कहते हैं—रुपया कमाने का नुस्खा कि—हल्दी लगे न फिटकरी और रंग चोखा आये।"

वह बोला—"अच्छा जी अब चलता हूं।"

"अरे भाई, तुम्हारे मतलब की बात तो रह ही गई। देखो, अब तुम से क्या छिपाऊँ। छांट-छांट कर स्कूल में मास्टरनी रखता हूं। तुम जानो सरकारी हाकिम-हुक्काम सभी को तो खुश रखना पड़ता है। तभी तो मेरे सामने कोई साला सिर नहीं उठाता। इस बस्ती में कोई ऐसी सभा सोसाइटी है कि जिसका मैं अध्यक्ष, मंत्री या कोषाध्यक्ष नहीं हूं?"

"अच्छा जी अब...........।"

"अरे भाई अपनी रामी की तो खबर सुनते जाओ! बस्ती में आजकल चर्चा है कि वह बापू रामी को कहीं एक हजार में बेच आया है। और राजेन्द्र, तुम देख लेना इस झीनी को भी वह दो चार दिनों में ही अच्छी-खासी रकम लेकर कहीं चलता करेगा। एक तुम हो कि हाथ में फँसी चिड़िया को भी दूसरों के हाथ में दे बैठे।"

फिर आगे वह किसी भी तरह नहीं सुन पाया। बोला—"अच्छा डाक्टर बाबू, अब चलता हूं।" कहता-कहता वह उठ खड़ा हुआ और बिना उन डाक्टर बाबू की ओर निहारे चुपचाप कमरे से बाहर निकल गया।

कमरे में आकर सोचने लगा—वह बापू रामी को किसी जाल में फँसा कर बेच आया तो आज जो कुछ उसे दिखाया गया है वह भी तो जाल हो सकता है!

यह ध्यान आते ही वह धड़धड़ाता सीढ़ियों से उतरा और किसी

अज्ञात जाल में फँसी भीनी का उद्धार करने चल दिया। उसके स्कूल, घर में, उसे खोजा; जब कहीं भी वह न मिली तो उस गफूर के मकान पर जा पहुंचा।

गफूर के मकान के सामने एक बहुत ऊँचा, लम्बा-चौड़ा चबूतरा है। उसी पर एक ओर नवाब साहब की बैठक है। उसे वहां देखकर एक ओर बँधी काली घोड़ी अगला एक पैर जमीन पर पटकती हिनहिनाने लगी।

बैठक खाली पड़ी थी। उसमें कोई भी नहीं था। सोचने लगा—किस से पूछूं कि गफूर कहां है? तभी उसने देखा—भीनी! गफूर से सटी उसके कंधे पर हाथ रखे मस्ती से झूमती उसके मकान के बड़े फाटक में घुस रही है।

राजेन्द्र ने जोर से पुकार—"भीनी!" पर भीनी ने लौट कर देखा तक नहीं।

× × × ×

गंगासागर की इस बस्ती में हिन्दू मुसलमान दोनों ही न जाने कितने वर्षों से साथ-साथ रहते आये हैं। होली के दिनों में रंग की छींटें पड़ जाने पर किसी मुसलमान को बिदक कर छुरा निकालते नहीं देखा और बकरीद के दिन हिन्दुओं के पूज्य पशुओं की बलि देने पर किसी हिन्दू को लाठी उठाते नहीं देखा।

पाकिस्तान बनने पर जिस तरह का खूनी फाग देश में जगह-जगह खेला गया था सो उन दिनों भी इस बस्ती में खून की एक बूंद भी छिटकती नहीं दिखाई पड़ी।

तीन लोक से मथुरा न्यारी की भांति सबसे अनोखी इस बस्ती मे न जाने कैसे भीनी की बात को लेकर दोनों वर्गों में अपने-अपने धर्म-कर्म के प्रति ऐसा मोह जागा कि सचमुच ही उस 'धर्म' के आगे प्राण तुच्छ हो उठे।

बीकानेरी-टैक्ट विशारद डाक्टर ने उस दिन हिन्दू धर्म और हिन्दू

जाति के प्रति ऐसी भक्ति दिखाई कि गंगा सागर की हिन्दू जनता मन ही मन उनके प्रतिश्रद्धा भाव से गद्गद् हो उठी।

बस्ती के कुछ प्रमुख व्यक्तियों के सामने रुंधे कण्ठ से डाक्टर बाबू बोले—

"यह सतियों का देश है। यहाँ गुंडागर्दी नहीं चलेगी। उस मुसलमान गुंडे से हिन्दू लड़की की आबरू बचाने के लिए अपनी सम्पत्ति और यह शरीर भी चला जाये तो भी मैं यह अधर्म नहीं होने दूंगा।" कहते-कहते जब उन्होंने उपस्थित जन-समुदाय से मुकद्दमा लड़ने, हाकिम-हुक्काम को रिश्वत देकर उस आवारे गफूर को फांसी लगवा देने के लिए रुपयों की अपील की तो इतना रुपया इकट्ठा हो गया कि अन्दर ही अन्दर मारे खुशी के उनका रोम-रोम खिल उठा।

साथ ही उनके मन में अपनी फार्मेसी के लिए नई-नई मशीनें खरीद कर उन रुपयों का सदुपयोग करने का निश्चय भी जाग गया।

मनुष्य की इस मन-बुद्धि का भी कोई ठिकाना है? अपने किसी प्रच्छन्न छोटे से स्वार्थ को लेकर वह बड़े से बड़ा अनर्थ कर बैठता है और साथ ही उसके अनौचित्य तक में सन्देह नहीं कर पाता। मनुष्य को इस प्रकार स्वयं अपने को छलते कई बार देखा गया है।

उन दोनों वर्गों की भीड़ अपने-अपने अज्ञात अदृष्ट देवताओं और पीर-पैगम्बरों के नाम प्लुत स्वरों में उच्चारती हाथ में लाठी बर्छी लिये, छतों पर कंकड़ पत्थरों का ढेर इकट्ठा करके एक दूसरे के प्राण ले लेने के दृढ़ संकल्प को लेकर जब आमने-सामने आ खड़ी हुई तो राजेन्द्र किसी भी प्रकार इतनी छोटी सी बात न समझ पाया कि डाक्टर बाबू की मदद से जो इतना बड़ा तूफान खड़ा कर दिया है, जिसमें बीसियों की गर्दनें कट सकती हैं, सो इस इतने बड़े अनर्थ के पीछे झीनी के प्रति रही उसकी निजी आसक्ति ही क्या काम नहीं कर रही है?

कौन समझाये उस हिन्दू समुदाय को कि जिसको इकट्ठा करके उस डाक्टर ने गफूर के बाप नवाब साहब के मकान को जा कर जो घेर लिया

है सो उसके पीछे हिन्दू जाति और धर्म के प्रति उसका अटूट प्रेम न होकर चन्दे में हजारों रुपये इकट्ठा करके हिन्दू जाति का लीडर बन जाना ही उसका एकमात्र उद्देश्य है जिससे आसन्न चुनावों क जीत कर बस्ती का सरपंच बनने में कठिनाई न रहे।

तभी दोनों वर्गों ने देखा कि महमूद मियाँ तहमद बांधे उस ओर दौड़े आ रहे हैं। वे उसी दिन साधु सन्तों का सत्संग करके तथा सन्त विनोवा के साथ भूदान यज्ञ में काम करके बाहर से लौटे थे। इस लड़ाई झगड़े की खबर सुनते ही एक घूंट पानी तक बिना पिये इस ओर दौड़ पड़े थे।

उनके आते ही जन समूह में न जाने कैसी क्रोध-क्षोभ की एक लहर सी दौड़ गई। दोनों ओर से आवाजें आने लगीं—

"काफिर है! गुंडा है!! मारो! पहले इसी को—पकड़ लो!!"

महमूद मियाँ पास की एक टूटी दीवाल पर चढ़ कर खड़े हो गये। न जाने उनके चेहरे पर उस खून की प्यासी भीड़ ने ऐसा क्या देखा कि क्षण भर के लिए स्तब्ध रह गई।

लगता था इन दोनों वर्गों से मिले अपमान और घृणा के कारण जो सन्ताप वे विगत कई वर्षों से चुपचाप सहते आ रहे हैं, सो सब जैसे अचानक उनके चेहरे पर पुंजीभूत हो उठा है।

वे मुट्ठियाँ बांधे हाथों को उठा कर बोले—

"ओ अल्लाह के बन्दो! पहले मैं तुम्हीं से पूछना चाहता हूँ, कुरानशरीफ की किस आयत में लिखा है किसी की बहू-बेटी को जबर-दस्ती अपने घर में ला कर बन्द कर लो।"

वैसे गफूर के बाप नवाब साहब गफूर को डाँट-फटकार कर खुद झीनी को लेकर उसके घर छोड़ने आ रहे थे पर जब डाक्टर द्वारा बहकाये गये हिन्दुओं ने हाथ में लाठी-बर्छी लिए उनके मकान को चारों ओर से घेर लिया तो उनका भी पुश्तैनी अभिमान जाग पड़ा और उन बूढ़ी नसों में रह-रह कर मुगलिया खून खोल उठा, फिर औचित्य अनौ-

चित्य का बिना विचार किये वे अपने भाई-बन्दों को इकट्ठा करके सामने आ खड़े हुए। उनको सरकार से मिली अपनी कारतूसी चार बन्दूकों का भी कम अभिमान नहीं था।

महमूद मियाँ की बात सुनकर नवाब साहब ही जोर से चीख कर बोले—

"झीनी अपनी मर्जी से आई है !"

महमूद मियाँ बोले—"मर्जी से आई है तो बाहर बुलाकर उसी से एक बार कहला क्यों नहीं देते ?"

सुनते ही बम भोले के भक्त और बजरंग बली के चेले जोर-जोर से चिल्लाने लगे—

महमूद मियाँ की जय हो !

महमूद मियाँ की जय हो !!

उधर से जवाब आया—

काफिर महमूद मुर्दाबाद !

काफिर महमूद मुर्दाबाद !!

तभी राजेन्द्र ने दूसरे वर्ग की ओर न जाने ऐसा क्या देखा कि भीड़ को ठेलता महमूद मियाँ की ओर भागता जोर-जोर से चीखने लगा— "बचो ! महमूद मियाँ बचो !!"

अचानक न जाने कैसे उस आवारे गफूर की बाँह में सधी बन्दूक का घोड़ा दब गया और 'ढाँय !' की आवाज के साथ गोली महमूद मियाँ की छाती में आ लगी ! गोली लगते ही वे लड़खड़ाते उस दीवाल से गिरने लगे। नीचे खड़ी भीड़ ने उन्हें अपने हाथों पर ही झेल लिया। उधर गोली की आवाज सुनते ही भीड़ में भगदड़ मच गई। साथ ही डाक्टर बाबू से रिश्वत लेकर पुलिस के दारोगा जी अचानक जरूरी काम से बाहर किसी गाँव में सिपाहियों को लेकर चले गये थे, सो वे भी वापस लौट आये।

× × × ×

महमूद मियां आज इस दुनियां में नहीं हैं। गोली लगने के बाद थोड़ी सी देर ही वे जीवित रहे। मरने से पूर्व हिन्दू-मुसलमानों की भीड़ उनको घेरे खड़ी थी। वे कुछ कहना चाहते थे पर कह नहीं पाते थे। बार-बार होंठ हिल कर रह जाते थे। तभी अपनी समस्त शक्ति संचित करके बीकानेरी डाक्टर की ओर देखते-देखते बोले—

"भाई !····ये मुसलमान भी····तुम्हारे····भाई हैं····ग़लती····करे···· तो····समझा····बुझा लिया····करो····गफूर····कहां····गया····ज़रा········ उसे।"

वहां उदास खड़े नवाब साहब ने गफूर को महमूद मियां की ओर ठेल दिया। उसकी ओर देखते-देखते महमूद मियां बोले—"खुदा···· तुझे····माफ करे····भाई !"

सुनकर वह आवारा गफूर महमूद मियां के पैरों पर गिर पड़ा और लगा फफक-फफक कर रोने ! महमूद मियां के पलक झपक गये और होंठ स्थिर हो गये !

गफूर के अब्बा की पसलियों को कँपाती एक हिलकी सी उठी और कंठ से टकरा कर लौट गई। उन्होंने आंसुओं से धुंधली हुई निगाह से महमूद मियां को देखते-देखते कांपती उँगलियों से चादर खींच कर उस मृत मुंह को ढांप दिया।

पास ही खड़े राजेन्द्र को लग रहा था जैसे वह वहां नहीं है। उनके सम्बन्ध की जाने कैसी-कैसी बातें एक के बाद एक उसे याद आ रही थीं। उन स्मृतियों के घटाटोप में ऐसा खो गया कि जब उसे चेत आया तो देखा उसका वह विजातीय बन्धु सदा के लिए उसे छोड़ कर चला गया है ! राजेन्द्र को लगा जैसे वह गोली गफूर के हाथ से न छूट कर उसी के हाथ से छूटी थी। उसी ने हत्या की है ! वही है उसका एक मात्र हत्यारा !

जब अस्पताल से उनकी बगीची की ओर उन्हें ले जाने के लिए महमूद मियां का जनाजा निकला तो लगता था—जैसे सारी बस्ती—

हिन्दू-मुसलमान, बच्चे-बूढ़े, स्त्री-पुरुष सब बरसाती नदी की भाँति उस जनाज़े के पीछे उमड़ पड़े हैं।

बस्ती के घर, मकान, झोंपड़े सब सूने पड़े थे। सभी सिर झुकाये निःशब्द जनाज़े के पीछे चले जा रहे थे।

महमूद मियाँ की इच्छानुसार उन्हीं की बगीची में हार-सिंगार के झाड़ के नीचे उनके शव को बड़े सम्मान के साथ दफना दिया गया।

चाहे उनके जीते जी दोनों वर्गों ने उन्हें 'गुंडा' 'काफिर' कहकर ही उनका सम्मान किया हो, पर न जाने क्यों अब साँझ होते ही उनकी मजार पर दिया जलाकर रखने के लिए उस बगीची में दोनों वर्गों का छोटा-मोटा मेला-सा जुड़ जाता है। आज एक के लिए 'देवता' और दूसरे के लिए वे 'पैगम्बर' बन गये हैं।

२४

उस दिन गंगासागर बस्ती में अचानक जो तूफान उठ खड़ा हुआ था और जिसका अन्त किसी हुतात्मा के बलिदान से हुआ था, सो आज उस बात को लगभग चार मास बीत गये हैं।

अदालत का फैसला आज होगया है—उस आवारे गफूर को आजन्म कारावास का दण्ड मिला है और झीनी अभी अभी थोड़ी देर पहले साँझ को जेल की हवालात से लौटकर आ चुकी है।

सावन का महीना है। थोड़ी ही देर पहले पानी बरस कर थम गया है। साँझ की बुझती किरणों ने आकाश में तैरती सफेद बदलियों को हल्के नारंगी रंग से रंग दिया है।

राजेन्द्र ने बिछौने पर लेटे-लेटे खिड़की से बाहर आकाश में सप्तरंगी धनुष को बनते देखा। उस ओर देखता-देखता सोचने लगा—

ये रंगीन मनमोहक बदलियाँ, ये सप्तरंगी धनुष क्यों बनते हैं? क्यों रूप के इस आकर्षण से जन-जन का मन लुभाकर विलीन हो जाते हैं? मानव, प्रकृति सब का यही नियम है? मात्र छलना!

रामी अपनी झलक दिखाकर अचानक न जाने कहाँ विलीन हो गई। और झीनी ने अपने रूप की मरीचिका में उलझाकर उसे ऐसा धोखा दिया कि तोड़ कर ही रख गई है। किन्तु जब मैं अपने इस मन पर ही विश्वास नहीं कर पाता तो कैसे कहूँ कि झीनी ने भी मुझे धोखा ही दिया है।

झीनी! मैं तुम्हें घृणा करता हूँ फिर भी तुम्हारे लिए मर सकता

हूँ। झीनी! क्या मैं तुम्हें अब भी प्यार करता हूँ, अब भी—? सोचते-सोचते उसकी आँखें छलछला आईं।

तभी उसने देखा वे रंगीन बदलियाँ और सुन्दर सप्तरंगी-धनुष मिट चुका है। साँझ का प्रकाश बुझकर चारों ओर अँधियारी छा गई है। फिर ध्यान आया—

क्यों आज रह-रहकर मेरा मन तड़प उठता है? क्या जीवन भर मुझे कभी चैन न मिलेगा? झीनी! मैं तुम्हें एक बार देख भर लेने के लिए ही यहाँ बैठा हूँ, नहीं तो कब का भाग गया होता।

उसे याद आया कि कैसे बगीचे के पीछे छिपी बैठी वह गफ़ूर से घुट-घुट कर बातें कर रही थी।

याद आते ही मारे घृणा के उसके रोंगटे खड़े हो गये। मुँह बनाता किसी श्लोक के एक पद का बार-बार जाप-सा करने लगा—

"स्त्रियश्चरित्रं पुरुषस्य भाग्यं, दैवो न जानाति कुतो मनुष्यः।'

उसे लगा जैसे कमरे के उस अंधकार में कोई दबे पाँव घुस आया है। उसने पास पड़ी दियासलाई उठाकर लालटेन जलाई और उस उजाले में देखा सामने झीनी खड़ी है।

झीनी के उस चेहरे को देखकर वह विस्मय में डूब गया। सोचने लगा—

जो उसे धोखा देकर, उससे छिपकर बगीचे के पीछे बैठी गफ़ूर से बातें कर रही थी, फिर एक दिन उसी के घर में पकड़ी गई; सो उसी की आँखों में मेरे लिये ये प्यार कैसे छलक उठा है? कैसी हैं ये उसकी स्निग्ध करुण आँखें? कैसे उस दिन की उतनी बड़ी अपनी लज्जाजनक बात को भुलाकर मेरे पास चली आई है?

तभी झीनी धीरे-से बिछौने पर पाँयती ओर बैठ गई।

भगवान्! तुम्हारी उदारता, वात्सल्य की अनेक मुखों से, अनेक प्रकार की विरुदावली सुनी है, पर इस मनुष्य नाम के प्राणी के भीतर

ऐसे 'मन' की सृष्टि तूने क्यों की जो जीवन भर उसे अपनी छलना में उलझा-उलझाकर मारे डालता है।

थोड़ी ही देर पहले जो राजेन्द्र झीनी के लिये मर सकने तक का संकल्प किये बैठा था, जो उसे एक बार देख भर लेने के लिये व्याकुल हो रहा था, सो वही भर्राये स्वर में बोला—

"कहिये! इधर कैसे पैर घूम गये ?"

सुनकर वह रुँआसी-सी बोली—

"क्यों ? मेरे पैर इधर रखने से क्या आपका घर अपवित्र हो जाएगा ? इसीलिए पूछ रहे हैं ?"

"हां, मैं यही पूछ रहा हूं कि तुम इस कमरे में क्यों आई ?"

सुनकर झीनी ने सिर झुका लिया। कुछ देर चुप बैठी रही, फिर आंसुओं से भीगे स्वर में बोली—

"इस घर में नहीं आती तो कहां जाती ? क्या अब और भी कहीं मेरा ठिकाना है ?"

"ठिकाना खोजते तुम्हें देर कितनी लगती है ? न सही गफूर, कोई और ही सही ।"

सुनकर झीनी का मुंह एकाएक दीप्त होकर बुझ गया। थोड़ी देर उस कमरे में सन्नाटा रहा। तभी कांपते कण्ठ से राजेन्द्र तीव्र स्वर में बोला—

"झीनी ! मैं समझ नहीं पाता कि तुम लोग क्या हो ? क्या इस संसार में सब ठौर, सब ओर धोखा ही है ? मेरे भाग्य में क्या दिन रात ठगाये जाना ही लिखा है ?'

तभी झीनी सुबकती सी बोली—

"यह क्यों कह रहे हैं आप ? किस ने दिया है आपको धोखा ? धोखा आपने दिया है ! मैं अच्छी तरह जानती हूं कि मेरी दिदिया से भी आपने प्रेम किया था और जब आपके अविश्वासी मन में उनके लिए घृणा जागी तो दुत्कार कर उस रात कमरे से बाहर निकाल दिया था।

मैं नहीं जानती थी कि आप सभी के साथ ऐसा ही व्यवहार करते हैं ? अब आगे मैं यहां आकर दुःख नहीं दूंगी पर यह बताये जाती हूँ कि जिस माटी से मेरी दिदिया बनी थी, उसी से भगवान ने मुझे नहीं बनाया है !"

"जरा मैं भी तो सुनूं कि आपको भगवान ने कैसी माटी से बनाया है ? क्या करेंगी आप ?"

"वह सुनकर आप क्या करेंगे, वह मेरी अपनी बात है पर आप के बारे में बताये जाती हूँ। डाक्टर बाबू, आप उम्र में मुझ से बड़े हैं। चल फिर कर दुनिया भी कम नहीं देखी है, पर लगता है इतने बड़े शरीर में कहीं पाँच-सात वर्ष का बच्चा हो बैठा है !"

कहती-कहती बिछौने से उठकर देहरी पर जा खड़ी हुई। झीनी की बात सुन कर न जाने कैसी-कैसी बातें उसके मन में उठनें लगीं।

देहरी पर खड़ी झीनी के चेहरे को एक बार उसने भली-भाँति देखना चाहा किन्तु लालटेन के धुंधले प्रकाश में कुछ भी दिखाई नहीं पड़ा। तभी रुलाई के वेग को रोकती हवा के झोंके की तरह वह वहां से चली गई।

उसको जाते देख एक बार उसने चाहा कि पुकार कर रोक ले पर कंठ से स्वर ही नहीं फूटा। उसे लगा जैसे मारे प्यास के उसका कण्ठ सूख गया है। छाती के भीतर ही भीतर रह-रह कर एक तरह का शूल-सा उठने लगा। उसे पूरी सांस तक नहीं आ रही थी।

× × ×

उस बात को आज लगभग तीन मास बीत गये हैं। झीनी की अम्मां बुढ़ापे की बीमारी से मर गई है। झीनी का स्कूल जाना भी छूट गया है। स्कूल के संचालक डाक्टर बाबू ने 'नैतिकता' और 'पवित्रता' के नाम पर झीनी को स्कूल जाने से रोक दिया है। सारी यूनिवर्सिटी में फर्स्ट क्लास फर्स्ट आने की उसकी अभिलाषा मन की मन में ही रह गई। अब झीनी सब ओर से टूट गई है।

कभी-कभी अनायास उसकी आँखें न जाने क्या देख लेने के लिए राजेन्द्र की खिड़की की ओर उठ जाती हैं। उधर देखते ही मारे घृणा और आत्म ग्लानि के उसका सारा शरीर झनझना जाता है।

जिस सुहागिन का पति अचानक मर गया हो उसी सद्य:विधवा की भाँति रोज तीखा दर्द लिए वह सो जाती है और व्यथा के उमड़ते ही जाग पड़ती है। फिर किसी भी तरह नींद नहीं आती। इसी तरह छटपटाते उसने पिछले तीन महीने विता दिये हैं।

धीरे-धीरे इसी तरह दिन-सप्ताह-महीने बीतते गये। फाल्गुन में पलाश फूले, ग्रीष्म की दुपहरिया न जाने कितने सन्तप्त नर-नारियों की गरम निश्वासों को अपनी साँसों में भर-भर कर संसार को झुलसा कर चली गई। और अब विरही मन को तड़पा-तड़पा कर मार डालने के लिए वर्षा के काले-कजराले बादल आकाश में उमड़-उमड़ कर आने लगे हैं।

एक दिन साँझ का समय था। थोड़ी देर पहले पानी बरस कर थम गया था। दालान में उमस थी सो झीनी आँगन में खटोला खींचकर आ लेटी थी।

खटोले पर लेटी-लेटी आकाश में तैरती रीती भरी बदलियों को चुपचाप देख रही थी। देखते-देखते उसकी दृष्टि एक सफेद बदली पर जम गई। वह धीरे-धीरे पूरब से पच्छिम की ओर उड़ी जा रही थी। उस बदली के पीछे दृष्टि दौड़ाते-दौड़ाते सहसा उसे आकाश की उस विशालता का ज्ञान हुआ!

सोचने लगी—कैसा असीम है यह आकाश! कहीं ओर-छोर नहीं और मैं कितनी छुद्र!

तभी एकाएक उसके मन में प्रश्न उठा—इस विराट सृष्टि में उस उतनी छोटी के लिए कहीं भी तनिक-सा ठौर नहीं, जहाँ रह कर सम्मान

पूर्वक जीवन बिता सके ? जहाँ उसकी जाति, जन्म को लेकर 'छी-छी' की आवाजें न आयें !

सब ठौर—सब जगह जब यही अपमान उपेक्षा-अनादर ही उसके भाग्य में लिखा है तो क्या विधाता ने यही सब सहने के लिए उसकी सृष्टि की थी ? क्या है उसके जीवन का अर्थ-उद्देश्य ?

Comments:
The book may be good or bad, Try to read it.
Ushchander
Sd/- Ramesh Razdan
Reader.

Library Sri Pratap College,
Srinagar.

दर्शन

"कल्याणी ! साँची प्रीति के बारे में दुनिया के लोग कितना क्या जानते हैं ? जिस दिन तुम अपने इस मानवी-प्रेम को भगवान् के श्री चरणों में अर्पित कर दोगी बस, उसी दिन—उसी पल तुम्हारे मन का समस्त संताप धुल-पुंछ जाएगा !'

२५

इसी तरह जाने कितने समय तक अपने उस आत्म-पीड़न को सहती जीवन के अर्थ-उद्देश्य को जान लेने के लिए दिन रात छटपटाती रही और एक दिन अचानक ही उसे राह भी मिल गई।

उसने सुना था कि महमूद मियाँ जब उस दिन अचानक कुछ महीनों के प्रवास के बाद लौटे थे तो किसी वैष्णव बाबा के प्रति श्रद्धा भक्ति और उनके ज्ञान से गद्गद् होकर अपनी कुल सम्पत्ति और पूरी बगीची उन्हीं के नाम करके सरकारी लिखा-पढ़ी कर आये थे और शेष कुछ खेत विनोबा भावे के 'भूदान यज्ञ' के खाते में लिख आये थे।

पिछले कुछ दिनों से वही वैष्णव बाबा जी अपने कुछ शिष्य-शिष्याओं के साथ महमूद मियाँ के बगीचे में आ जमे हैं।

झीनी ने सुना कि—

वैष्णवों के उस अखाड़े के स्वामी बाबा जी रात को भगवान की पूजा के बाद भगवान् की ऐसी कथा सुनाते हैं कि संसार का सब दुःख-दर्द भूल जाता है। और यह सुनकर तो उसके आनन्द और उत्साह का ठिकाना ही न रहा कि—

हिन्दू धर्म में यही एक ऐसा पंथ है जो छुआछूत नहीं मानता। उनके यहाँ सब एक बराबर हैं। कोई ऊँचा नहीं, कोई नीचा नहीं। अमीर-गरीब सब के साथ बाबा जी का एक सा व्यवहार होता है।

एक दिन वह साँझ होते ही नहा-धोकर वैष्णवों के अखाड़े की ओर जाने की तैयारी करने लगी, जब वहाँ पहुँची तो रात हो चुकी थी।

भगवान् के सामने कीर्तन हो रहा था। सब की दृष्टि राधा-कृष्ण की युगल मूर्ति पर लगी थी।

वह उन दर्शक भक्तों में एक ओर चुपचाप बैठ गई। कभी वह भगवान् की ओर देखती है कभी सामने बैठी भक्त मण्डली की ओर। सब की आंखों में न जाने कैसा भाव छलक-छलक उठता है।

झीनी को सहसा लगा जैसे इससे बड़ी सुख-शान्ति इस संसार में और कहीं नहीं है। रह-रह कर उसके भीतर ही भीतर कुछ मथ उठता है।

वह टकटकी लगाये भगवान् की युगल मूर्ति की ओर देखने लगी। देखते-देखते न जाने क्यों वह बार-बार सिहर उठती है।

सहसा उसे अपनी उस अद्भुत अवस्था का ज्ञान हुआ। वह लजाती सी प्रच्छन्न दृष्टि से सब की ओर देखने लगी। पर कहां ? लगा जैसे वहां कोई भी तो नहीं है। जैसे सब अपने-अपने शरीर को छोड़कर किसी अज्ञात लोक में जा बैठे हैं।

भगवान् के श्री चरणों में सब कुछ समर्पण कर देने पर ऐसे आनन्द की उपलब्धि हो सकती है सो उसने उन वैष्णव-वैष्णवियों के चेहरे पर आज पहली बार ही देखा और जाना था।

अचानक भगवान के सामने समवेत स्वरों में होने वाला कीर्तन रुक गया। एक वैष्णवी भगवान् के श्री चरणों के पास बैठी आंसुओं से गीले पलक झपकाती भगवान् की मूर्ति की ओर देखते-देखते गा उठी—

मैं जाण्यो नाहिं, पिय से मिलण कैसे होइ री ?
आये मेरे सजना, फिरि गये अँगना, मैं अभागण रही सोइ री
मैं जाण्यो नाहिं.....................................॥
फारूंगी चीर, करूं गलकंथा, रहूंगी बैरागण होइ री।
चुरियां फोरूं, मांग बखेरूं, कजरा मैं डारूं धोइ री॥
मैं जाण्यों नाहिं.................................॥

निसि बासर मोहि बिरह सतावै, कल न परत अब मोइ री।
मीरा के प्रभु हरि अविनासी, मिलि बिछरो मति कोइ री॥
मैं जाण्यो नाहि.......................................॥

गाते-गाते उस वैष्णवी की आँखों से सावन-भादों की झड़ी लग गई। तभी झीनी की दृष्टि एक बाबा जी की ओर गई। वे उस वैष्णवी के पास ही आँखें मूँदे बैठे थे। असल में वही थे, उस अखाड़े के स्वामी बाबा गोविन्द दास।

उस चेहरे की भव्यता देखकर वह मुग्ध हो उठी। उसे लगा जैसे भगवान् की मूर्ति और उन वैष्णव साधु के चेहरे में कहीं कुछ साम्य-सा है, पर कहाँ है सो किसी भी तरह नहीं समझ पाई।

उसका मन कर रहा था कि वह गीत सदा वैसा ही चलता रहे और वह रस-सागर में इसी तरह डूबी भगवान् के श्रीमुख को निहारती बैठी रहे। उसे लगा जैसे उसके मन का समस्त ताप धुल-पुंछकर साफ हो गया है।

लग रहा था जैसे उस गीत को सुनते-सुनते उसके भीतर ही भीतर कहीं बार-बार आनन्द की लहरें-सी उठने लगती हैं। धीरे-धीरे वह अपनी सुध-बुध ही बिसार बैठी।

उसे पता ही न चला कि उस गीत को सुनते-सुनते भाव-विभोर हो वह कब सिसक उठी और कब उसने अपने दोनों हाथों की चूड़ियाँ फोड़ डालीं।

पूजा की समाप्ति पर जब प्रसाद बाँटा जाने लगा तो बाबा गोविन्ददास जी का ध्यान झीनी की ओर गया। वह एकटक भगवान् की मूर्ति की ओर निहारे जा रही थी।

बाबा गोविन्ददास उठकर धीरे-से झीनी के पास आ खड़े हुए। झीनी के पास पड़ी उन टूटी चूड़ियों को देखकर उनका चेहरा अति करुण हो उठा।

उन्होंने हौले से अपना हाथ झीनी के सिर पर रख दिया। कुछ

भगवान् के सामने कीर्तन हो रहा था। सब की दृष्टि राधा-कृष्ण की युगल मूर्ति पर लगी थी।

वह उन दर्शक भक्तों में एक ओर चुपचाप बैठ गई। कभी वह भगवान् की ओर देखती है कभी सामने बैठी भक्त मण्डली की ओर। सब की आंखों में न जाने कैसा भाव छलक-छलक उठता है।

झीनी को सहसा लगा जैसे इससे बड़ी सुख-शान्ति इस संसार में और कहीं नहीं है। रह-रह कर उसके भीतर ही भीतर कुछ मथ उठता है।

वह टकटकी लगाये भगवान् की युगल मूर्ति की ओर देखने लगी। देखते-देखते न जाने क्यों वह वार-बार सिहर उठती है।

सहसा उसे अपनी उस अद्भुत अवस्था का ज्ञान हुआ। वह लजाती सी प्रच्छन्न दृष्टि से सब की ओर देखने लगी। पर कहां ? लगा जैसे वहां कोई भी तो नहीं है। जैसे सब अपने-अपने शरीर को छोड़कर किसी अज्ञात लोक में जा बैठे हैं।

भगवान् के श्री चरणों में सब कुछ समर्पण कर देने पर ऐसे आनन्द की उपलब्धि हो सकती है सो उसने उन वैष्णव-वैष्णवियों के चेहरे पर आज पहली बार ही देखा और जाना था।

अचानक भगवान के सामने समवेत स्वरों में होने वाला कीर्तन रुक गया। एक वैष्णवी भगवान् के श्री चरणों के पास बैठी आंसुओं से गीलें पलक झपकाती भगवान् की मूर्ति की ओर देखते-देखते गा उठी—

मैं जाण्यो नाहिं, पिय से मिलण कैसे होइ री ?
आये मेरे सजना, फिरि गये अँगना, मैं अभागण रही सोइ री
मैं जाण्यो नाहि..॥
फारूंगी चीर, करूं गलकंथा, रहूंगी बैरागण होइ री।
चुरियां फोरूं, मांग बखेरूं, कजरा मैं डारूं धोइ री॥
मैं जाण्यों नाहि..॥

निसि बासर मोहि बिरह सतावै, कल न परत अब मोइ री।
मीरा के प्रभु हरि अविनासी, मिलि बिछरो मति कोइ री॥
मैं जाण्यो नाहिं..................................॥

गाते-गाते उस वैष्णवी की आँखों से सावन-भादों की झड़ी लग गई। तभी झीनी की दृष्टि एक बाबा जी की ओर गई। वे उस वैष्णवी के पास ही आँखें मूँदे बैठे थे। असल में वही थे, उस अखाड़े के स्वामी बाबा गोविन्द दास।

उस चेहरे की भव्यता देखकर वह मुग्ध हो उठी। उसे लगा जैसे भगवान् की मूर्ति और उन वैष्णव साधु के चेहरे में कहीं कुछ साम्य-सा है, पर कहाँ है सो किसी भी तरह नहीं समझ पाई।

उसका मन कर रहा था कि वह गीत सदा वैसा ही चलता रहे और वह रस-सागर में इसी तरह डूबी भगवान् के श्रीमुख को निहारती बैठी रहे। उसे लगा जैसे उसके मन का समस्त ताप धुल-पुंछकर साफ हो गया है।

लग रहा था जैसे उस गीत को सुनते-सुनते उसके भीतर ही भीतर कहीं बार-बार आनन्द की लहरें-सी उठने लगती हैं। धीरे-धीरे वह अपनी सुध-बुध ही बिसार बैठी।

उसे पता ही न चला कि उस गीत को सुनते-सुनते भाव-विभोर हो वह कब सिसक उठी और कब उसने अपने दोनों हाथों की चूड़ियाँ फोड़ डालीं।

पूजा की समाप्ति पर जब प्रसाद बाँटा जाने लगा तो बाबा गोविन्ददास जी का ध्यान झीनी की ओर गया। वह एकटक भगवान् की मूर्ति की ओर निहारे जा रही थी।

बाबा गोविन्ददास उठकर धीरे-से झीनी के पास आ खड़े हुए। झीनी के पास पड़ी उन टूटी चूड़ियों को देखकर उनका चेहरा अति करुण हो उठा।

उन्होंने हौले से अपना हाथ झीनी के सिर पर रख दिया। कुछ

देर वह वैसी ही बेसुध-सी बैठी रही, फिर न जाने क्यों एक बारगी कांप गई। लगा जैसे वह अपने पंचभूत में फिर लौट आई है।

उसके सिर पर हाथ रक्खे बाबा जी को वहां खड़ा देख वह सुबकती-सी उनके पैरों पर जा गिरी। तभी उस भक्त मंडली के चेहरे सहसा झीनी की ओर घूम गये।

झीनी के उस अप्रतिभ सुन्दर चेहरे में काले घने झपकते पलक और उन भाव-विभोर आंखों को जब देखा तो वह भक्त-मंडली उस ओर निहारती ही रह गई।

एक वैष्णवी ने झीनी को भगवान् का प्रसाद दिया। प्रसाद लेकर झीनी बाबा जी को प्रणाम करके वहां से चलने लगी। उसी समय बाबा जी बोले—

"सुनो!"

"जी!"

"तुम्हें कितने दिनों से खोज रहा था। कहां जा छिपी थी?"

"मैं?" कहते-कहते विस्मय से बाबा जी के उस भव्य मुंह की ओर एकटक देखने लगी।

वे मन्द-मन्द मुस्काते बोले—

"हां, तू—तू ही तो—तू मुझे भूल गई है। पर मुझे तो तेरी एक-एक बात याद है।"

सुनकर अचरज के मारे उसकी जीभ तालू से चिपक गई। सारी शक्ति बटोरकर सकुचाती-सी बोली—

"मेरी बात? कौन-सी बात?"

"कितनी बार कदम्ब के नीचे बैठकर हमारी बातें हुई हैं, कितनी बार तूने मटकी से छाछ पिलाई है!"

सुनकर भौचक्की-सी बोली—

"कहां? कब?"

"वृन्दावन और गोकुल के लताकुंज, जमुना के कूल किनारे सब भूल गई ?" कहते-कहते उन्होंने अपनी आँखें मूंद लीं।

उन आरती-दीपों के धुंधले प्रकाश में बाबा जी का वह चेहरा ऐसा भावमय हो उठा कि देखते-देखते कैसे भी आँखों की प्यास न बुझती थी।

वे आँखें मूंदे ही बोले—

"मेरे मनमोहन की उस मोहिनी छवि को जिसने एक बार देख लिया है सो क्या कोई भूल पाता है ? फिर तू कैसे भूल गई ?

कितनी बार वृन्दावन की कुंजों से आती बंसी की आवाज सुनकर तू घर छोड़, नयनों का काजल धोती और इसी तरह अपनी चूड़ियाँ फोड़कर दौड़ पड़ती थी। अपने उस गिरधर गोपाल की हम सब वही गोप-गोपियाँ ही तो हैं।

'आज भी जब मेरे कन्हैया अन्दर बैठे-बैठे वेणु बजाते हैं तब क्या तन मन की सुधि रहती है ? तभी तो वह प्रेम-बावरी मीरा अपने गिरिधारी को पुकार-पुकार कर गा उठती थी—

'चुरियाँ फोरूं, माँग बखेरूं, कजरा मैं डारूं धोइ री' कहते-कहते वे चुप होगये।

सब स्तब्ध-से खड़े बड़े गुसाईं की ओर देखे जा रहे थे। तभी उन्होंने आँखें खोलीं। झीनी की ओर देखते-देखते अति मीठे स्वर में बोले—

"कल्याणी! कल आओगी न ?"

"हाँ बाबा जी!" कहकर सिर झुकाये वह धीरे-धीरे वहाँ से चली गई।

२६

जब से झीनी उस वैष्णव मंडली में आ मिली है तव से लगता है जैसे आनन्द के उस शान्त सरोवर में लहरें चंचल हो लहरा उठी हैं।

झीनी को सदा से अध्ययन की प्यास रही है। बाबा गोविन्ददास के पास अनेकों विषयों पर लिखे ग्रन्थों का भण्डार पाकर तो उसे लगा जैसे जन्म-जन्म की प्यासी हिरनी नदी के किनारे आ खड़ी हुई है।

भगवान् के कीर्तन, पूजन की तैयारी आदि से जो भी समय बचता है वह अध्ययन ही में लगा देती है। जितना ही वह पढ़ती है उतनी ही शंकायें, नये-नये प्रश्न, नये-नये तर्क उसके मन में उठते जा रहे हैं।

कभी-कभी बाबा जी से उसकी बातें भी होती हैं किन्तु भगवत्-प्रेम और मुक्ति-प्राप्ति तक ही वह बातचीत सीमित रहती है, जो काँटा उसके हृदय में चुभ गया है उसे किसी भी प्रकार नहीं निकाल पाती।

कार्तिक का महीना था। पिछले दिन पानी बरस जाने से जाड़ा बढ़ गया था। हरिकीर्तन के बाद सभी भगवान् का प्रसाद पाकर शान्त चित्त से अपने-अपने स्थानों पर जा चुके थे।

पिछले दिनों बड़े गुसाईं की कुटिया के पास ही झीनी की नई झोंपड़ी बन गई है। पहले वह अन्य वैष्णवियों के साथ ही रहती थी पर पढ़ने लिखने के लिये उसे एकान्त चाहिये था, इसीलिए बड़े गुसाईं के आदेशानुसार यह नई व्यवस्था कर दी गई है।

आज रह-रहकर उसे विगत जाड़ों की एक रात याद हो आती है, जब राजेन्द्र ने उसे मीरा की कथा सुनाई थी और उस गीत का काव्य-सौन्दर्य!

प्रीति किये सुख ना मारी सजनी,

जोगी मिन्त न कोय।

आज की रात भी उसे ठीक वैसी ही लग रही थी। उस दिन पानी बरसने के बाद ऐसा ही जाड़ा पड़ा था।

याद आते ही उसे लगा कि जो दर्द इतने दिनों से किसी तरह दबाये चली आरही है सो आज किसी भी तरह नहीं दबा पायेगी।

सारी शक्ति से वह उस वेग को हृदय के निम्नतम स्तर की ओर ठेल देती है पर भगवान! आज उसे हो क्या गया है? क्यों वही दर्द बार-बार उछल आता है?

धीरे-धीरे उसे लगा जैसे सारा शरीर ढीला पड़ता जा रहा है। जाने कितनी देर तक उसकी आंखों की कोरों से आंसुओं की बूंदें ढुलक-ढुलक कर बिछौना भिगोती रहीं। आज तो उसे कैसे भी चैन नहीं आता। रोकर भी तो नहीं!

कुछ सोचकर आंसू पोंछती उठी और धीरे-से द्वार खोला। ठंडी हवा का एक झोंका आया पर उसे लगा जैसे उस झोके की शीतलता किसी ने हर ली है।

वह वहीं द्वार के बीच खड़ी बड़े गुसाईं की कुटिया की ओर देखती कुछ सोचती विचारती रही।

उनकी कुटिया का द्वार इसी ओर है। द्वार बन्द है पर झीना-प्रकाश छन-छनकर आरहा है। लगता है वे अभी तक सोये नहीं हैं।

चारों ओर सन्नाटा है। कभी-कभी पास ही के कमलों से भरे तालाब के किनारे टिटहरी बोल पड़ती है।

झीनी ने अपना सिर एक ओर झिटककर अपनी झोंपड़ी का द्वार बन्द कर दिया, जैसे अचानक वह किसी निश्चय पर पहुँच गई है।

वह दबे पांव बाबा की कुटिया की ओर चल पड़ी। द्वार पर पहुँचते ही फिर किसी असमंजस में पड़ गई। कुछ देर चुपचाप खड़ी रही। फिर धीरे-से द्वार खोलकर अन्दर जा खड़ी हुई।

Library Sri Pratap College.
Srinagar

बड़े गुसाईं माटी का दीप जलाये कोई बड़ा-सा ग्रन्थ सामने रखे पढ़ रहे थे। पढ़ने में वे ऐसे डूब गये थे कि द्वार का खुलना और झीनी का अन्दर आ जाना भी वे न देख पाये।

दीये का प्रकाश सीधा उनके चेहरे पर पड़ रहा था। पढ़ते-पढ़ते उनकी आंखें गीली हो उठी थीं। धीरे-धीरे लगा जैसे गुसाईं की आंखें मारे आंसुओं के धुंधली हो उठी हैं। अन्त में उन्होंने पढ़ना बन्द कर दिया और आंखें मूंदकर न जाने किस अज्ञात लोक में चले गये।

जब आंखें खोलीं तो देखा—झीनी सामने खड़ी है। वे चादर से आंखें पोंछकर स्निग्ध स्वर में बोले—

"बैठो कल्याणी!"

झीनी चुपचाप जहां की तहां बैठ गई। वे बोले—

"क्या बात है? लगता है कहीं मन भटक गया है। है न यही बात?"

"हां, बड़े गुसाईं।"

"पर अब तो रात भी बहुत बीत गई है।"

"न आती तो शायद पागल हो जाती। इसी लिए चली आई हूं बड़े गुसाईं!"

"क्यों? क्या बात है?"

"तीन चार दिन से भगवान् का प्रसाद तक ग्रहण नहीं कर पाती हूं। आंखों की नींद न जाने कौन हर ले गया है?"

सुनकर बड़े गुसाईं ने आंखें मूंद लीं। भर्राये स्वर में बोले—

"सच कल्याणी?"

"हां बड़े गुसाईं! मन में सदा आग-सी लगी रहती है। पूजा करने बैठती हूं तो किसी का दयनीय चेहरा बार-बार दिख जाता है। तब जी चाहता है कि डिडकारी मारकर रो पड़ूं। अधूरी पूजा छोड़कर उठ जाना पड़ता है। ये पिछले कुछ दिन कैसे काट पाई हूं सो मैं ही जानती हूं!"

"मैं भी जानता हूं कल्याणी!"

"आप ?"

"हाँ कल्याणी। न जानता तो इतनी रात गये तुम यहाँ तक कैसे आ पातीं ? मैंने ही तो तुम्हें बुलाया था।"

"आपने ?"

"जो इस आश्रम में एक बार आ जाते हैं उनके समस्त सुख-दुःख क्या मेरे अपने ही नहीं हो जाते ? मैं अपने भगवान् के श्री चरणों में तुम्हारे दुःख विमोचन के लिए ही तो अभी-अभी निवेदन कर रहा था।"

"मेरे दुःख के लिए ? आप जानते हैं मेरा दुःख ?"

"जिस आन्तरिक दुःख में तप-तपकर तुम सोने-सी निर्मल हो उठी हो, सो क्या किसी से छिप पाता है ?"

"बड़े गुसाई, इस आश्रम में आये आज मुझे इतने दिन होगये। इस बीच क्या कभी किसी ने आकर मेरे बारे में आप से कुछ नहीं कहा ?"

"कहा—बहुतों ने कहा, किन्तु मैं तो दूसरों की आँखों से कम ही देख पाता हूँ। भगवान् ने ये जो दो आँखें मुझे दी हैं सो इन्होंने आज तक मुझे कभी नहीं ठगाया। ऐसी बातों में मैं अपनी आँखों का ही विश्वास कर पाता हूँ।" कह कर कुछ देर वे चुप रहे फिर बोले—

"कल्याणी, जिस रात पहली बार तुम्हें भगवान् की ओर टकटकी लगाये देखा तभी मैंने तुम्हें पहचान लिया था। बोलो, पहचाना था न ?"

"सो मैं क्या जानूं ? पर गुसाईं कभी-कभी मन करता है कि मर जाऊँ। अब तो किसी भी तरह नहीं सहा जाता।" कहते-कहते झीनी का गला रुंध आया।

सुनकर बड़े गुसाईं ने आँखें मूंद लीं। वे उसी मुद्रा में बोले—

"कल्याणी, प्रेम दिवानी मीरा भी एक दिन यही पुकार उठी थी—

मेरे मन में ऐसी आवे, मरूँ जहर विष खाय।
छाँड़ि गये बिसवासघात करि, नेह की नाव चढ़ाय॥"

कहते-कहते बड़े गुसाईं की बन्द पलकों से झर-झर आँसू झरने लगे।

कुछ देर वे वैसे ही बैठे रहे, फिर बोले—

"कल्याणी ! सांची प्रीति के बारे में दुनिया कितना क्या जानती है ? सच, जिस दिन तुम अपने इस मानवी-प्रेम को भगवान् के श्री चरणों में अर्पित कर दोगी बस उसी दिन—उसी पल—तुम्हारे मन का समस्त संताप धुल-पुंछ जायेगा। तब तुम जा पहुंचोगी उस मधुमती अवस्था में जहां रह-रहकर आनन्द की लहरें उठती हैं और आठों याम सब ओर सब दिशाओं में कुछ भीना-भीना-सा बरसता रहता है।

बस, कल्याणी ! यही है सिद्धि ! और यही है मुक्ति !!"

सुनकर भीनी कुछ देर चुप बैठी रही, फिर बोली—

"आपके ग्रन्थालय की कई किताबों में यही बात जगह-जगह पढ़ने को मिल जाती है पर बड़े गुसाईं, मैं इसे ग्रहण तो नहीं कर पाती।

उस रात भगवान् के श्री चरणों में यही निवेदन करते-करते तो मैंने हाथ की चूड़ियां फोड़ डाली थीं किन्तु आज मेरा मन रात के उस अपराध की सांत्वना मांग रहा है। सोचती हूं कहीं उनका अमंगल न हो जाये ?

बड़े गुसाईं ! सच्चे मन से किये गये मानवी-प्रेम का क्या कुछ भी मूल्य नहीं है ?"

"यह कौन कहता है ? इस सीढ़ी पर पैर रक्खे बिना कौन पहुंच पाया है वहां तक ?"

"तो बड़े गुसाईं, मुझे यही आशीर्वाद दो कि एक दिन मन ही मन जिन्हें मैंने वरण कर लिया था उन्हीं के चरणों में सिर रख कर अपने प्राण त्याग सकूं। गुसाईं, अब तो लगता है कि उनके बिना किसी भी तरह........।" कहते-कहते वह रुक गई।

सुनकर बाबा गोविन्ददास हतबुद्धि से भीनी की ओर देखते बोले—

"लेकिन कल्याणी, मैंने तो सुना था कि तुम उन्हें त्याग चुकी हो।

कई महीनों से एक-दूसरे को देखा तक नहीं है जबकि वे इसी बस्ती में रहते हैं ?"

"बड़े गुसाइं, वृन्दावन से मथुरा नगरी अधिक दूर तो नहीं थी फिर क्यों 'बिन गोपाल बैरन भई कुंजें' कह-कहकर जमुना किनारे बैठी राधा आंसू बहाती रही ?

क्यों उन शिलाओं पर जा-जाकर सिर धुनती रही जिनपर बैठकर कन्हैया ने कभी वंसी बजाई थी ? क्यों नहीं दौड़कर जा पहुँची मथुरा ? बोलिए बड़े गुसाइं, क्यों ?"

सुनकर माधुर्य के आकुण्ठित आत्म-प्रकाश से बड़े गुसाइं का चेहरा दीप्त हो उठा। फिर उनके अन्दर ही अन्दर कैसा भाव जागा कि आर्द्र कण्ठ से बोले—

"देवी, मैं पुरुष हूँ। स्यात् इसी लिए इतने वर्षों तक के अध्ययन, कीर्तन, पूजन के बाद भी इतना बड़ा सत्य मेरी आंखों से ओझल ही रह गया ! कभी श्री राधा के इस 'क्यों' तक पहुँच ही नहीं पाया।"

सुनकर झीनी अप्रतिभ-सी हो उठी। अपने को संभालती बोली—

"बड़े गुसाइं, मैं छोटी हूँ तो क्या आप भी मेरा उपहास ही करेंगे ? क्या........ ?"

बीच ही में बड़े गुसाइं भगवान को स्मरण करके हाथ जोड़कर मस्तक से लगाते बोले—

"मैं करूंगा उपहास ? देवी ! न उतना बड़ा हूँ न इतना छोटा ही कि तुम्हारा उपहास कर सकूं। सोचा था किसी दिन तुम्हें अवश्य ही बता दूंगा। पर लगता है आज की रात न बताया तो शायद कभी अवसर ही न आये।"

"मुझ से कुछ कहना था ?"

"हां कल्याणी ! तुम से—तुम्हारी इस काया के अन्दर जो आत्मा बसती है उससे। जिस रात पहले-पहल मैंने तुम्हें देखा तो लगा जैसे

वृन्दावन की कुंजगलिन में आरती का थाल लिये, कभी गोकुल की राह पर, छाछ की मटकी सिर पर धरे तुम्हीं मेरे सामने आ खड़ी होती हो।

तुम्हें देखते ही लगा था कि कितने जन्मों से मैं तुम्हें पहचानता हूँ। तब से उठते-बैठते, भजन-कीर्तन करते सब समय, सब ठौर तुम्हीं को मैं देखता आ रहा हूँ।

अभी जब तुम आईं तब मेरी आँखें इस धर्म ग्रन्थ को पढ़ रही थीं और मन तुम्हें पुकार रहा था ! कल्याणी तुम्हें ! बस तुम्हीं को !!"

बीच ही में झीनी पुकार उठी—

"बस ! गुसाईं बस !!"

"जानता हूँ ! यह सुनकर तुम अब यहाँ नहीं रह सकोगी। हो सकता है आज के बाद तुम्हें जीवन में कभी भी न देख पाऊँ, पर कल्याणी ! आज तुम्हारे इस बड़े गुसाईं की एकाङ्गी पूजा सम्पूर्ण हो गई है।

जब भी मेरी आँखें उन श्री राधाकृष्ण की युगल मूर्ति को निहारती थीं तो राधा की मूर्ति न जाने क्यों सदा इन आँखों से ओझल ही रह जाती थी। आँखें सदा मुरलीधर पर ही जा टिकती थीं।"

"बड़े गुसाईं ! आपको हुआ क्या है आज ?"

"कल्याणी ! उस लीलामय की लीला का भी कुछ ठिकाना है ? कब कहाँ महमूद गुसाईं से मिलना हुआ और उन्हीं के निमित्त यहाँ आया—और यहाँ तुम्हें पाकर आज की रात मेरी अधूरी साधना पूरी हो गई। आज तुम्हें मेरी एक बात माननी ही होगी ?"

"क्या बड़े गुसाईं ?"

"मना नहीं कर पाओगी, लगता है कल्याणी ! आज का यही हमारा मिलना अन्तिम होगा !"

सुनकर झीनी की पिंडलियाँ कांपने लगीं। वहउठकर जैसे तैसे खड़ी हो गई। अपनी बात कहते-कहते बड़े गुसाईं आसन से उठकर झीनी की ओर बढ़ने लगे।

अपने कल्पित आसन्न-संकट से बचने के लिए झीनी घबराई सी पीछे की ओर हटने लगी।

तभी बड़े गुसाईं ने झुककर अपना माथा उसके चरणों पर टेक दिया। झीनी किंकर्तव्य विमूढ़ सी जहाँ की तहाँ खड़ी रह गई। उस ने अनुभव किया कि गुसाईं के तप्त होंठ उसके पैरों पर दब कर भिंच गये हैं। वे धीरे-धीरे बुड़बुड़ाये —

"माँ ! श्री राधे ! आज मैंने तुम्हें पा लिया।"

तभी बाहर से किसी का कण्ठ-स्वर सुनाई पड़ा—"झीनी बिटिया कहाँ है ?"

सुनते ही झीनी धीरे से अपने पैर हटाती कुटिया से बाहर आ गई। कुछ वैष्णवियाँ झीनी को उसकी झोंपड़ी में न पाकर इधर-उधर खोज रही थीं।

इतनी रात गये जब वह बड़े गुसाईं की कुटिया से निकली तो सभी के सिर लाज से झुक गये। एक वैष्णवी ने आगन्तुक बूढे को बताया—

"वह रही तुम्हारी झीनी बिटिया !"

सुनकर आगन्तुक दौड़ कर झीनी के पास जा पहुँचा। घबराया सा बोला—

"बिटिया ! मैं डिस्पेंसरी का नौकर हूँ। छोटे डाक्टर बाबू की तबियत बहुत खराब है। आपको एक बार देखना चाहते हैं !"

सुनकर झीनी की हल्की सी चीख निकल गई। बोली—

"क्या हुआ ?"

बोला—"हैजा हो गया है।"

सुनकर झीनी विक्षिप्त की तरह बस्ती की ओर दौड़ पड़ी !

बाहर की बात-चीत और झीनी का बस्ती की ओर दौड़ जाना सब कुछ बाबा गोविन्ददास ने अन्दर से ही सुन लिया।

कुछ देर वे उसी मुद्रा में जहाँ के तहाँ माथा टेके पड़े रहे।

फिर धीरे से उठे और अपनी कुटिया से बाहर निकल कर उस असमय ही में भगवान की मूर्ति के सामने आँखें मूंद कर जा बैठे।

आश्रम के भक्त वैष्णव-वैष्णवियों ने असमय की उस आराधना को अपनी-अपनी कुटियों के छिद्रों से लुकछिप कर देखा और अपनी-अपनी प्रवृत्तियों के सहारे उसके भिन्न-भिन्न अर्थ भी लगा लिये।

बड़े गुसाइं मन ही मन अपने अन्तर्यामी को पुकार-पुकार कर कह रहे थे—

"भगवान्! मैं अपने जन्म-जन्म के संचित पुण्यों के बदले आज उसके प्राणों की भीख मांगता हूँ जिसे उस कल्याणी ने प्यार किया है। जो उसके रोम-रोम में बस गया है। नाथ! इस मानवी-प्रेम को कभी असफल मत बनाना।"



२७

झीनी सीढ़ियों पर चढ़कर जब हाँफती राजेन्द्र के कमरे में पहुँची तो देखा—धरती पर बिछे बिछौने पर पड़ा छटपटा रहा है। उसकी आँखें गड्ढों में चली गई हैं। वह 'पानी पानी' चीखता एक-एक साँस के लिए लड़ रहा था।

उसकी वैसी दशा देखकर झीनी का मन करने लगा कि एक बार उससे चिपटकर जी भरके रो ले पर उसकी आँख से एक बूंद आँसू तक नहीं निकला। उसकी वैसी हालत देखकर वह स्तब्ध रह गई थी। समझ नहीं पाती थी कि क्या करे—क्या न करे ?

राजेन्द्र ने उसकी ओर देखते-देखते कहा—"झीनी ! ····अब····जा····रहा····हूँ····तुमने····तुमने····मुझे····मार····डाला····क्यों?····बोलो····क्यों ? ········ ।" कहते-कहते वह अचेत हो गया।

डिस्पेन्सरी का वह बूढ़ा नौकर बाहर खड़ा था। झीनी उसी से बोली—

"भइया !"

"हाँ बिटिया।"

"तुम दौड़कर एक बार बड़े डाक्टर को बुला लाओ।"

"बिटिया, वह तो जवाब दे गये हैं।"

"जवाब दे गये हैं ?"

"हाँ, मुझ से कह गये थे—'घण्टे दो घण्टे की और बात है'। और यह भी कहा था—'चंदन! छूत की बीमारी है—पास मत जाना'। पर ऐसा भी कहीं अन्धेर होता है कि आदमी छटपटा कर प्राण दे दे और

में दूर बैठा रहूँ। बिटिया, तुम कहो तो मैं उनके पास एक बार फिर हो आऊँ।"

"ना, फिर रहने दो।" कहकर झीनी चुप रही। उसने निरुपाय हो राजेन्द्र का सिर अपनी गोद में ले लिया। एकटक उसके चेहरे को देखने लगी।

उसे लगा—जैसे पिछले कई दिनों से यही दयनीय चेहरा तो उसे दिख जाता था। फिर ध्यान आया—क्या इस आसन्न अमंगल का कारण उस रात भगवान् के सामने अपने हाथों की चूड़ियाँ फोड़ना ही नहीं है ?

वे देवता स्वरूप बड़े भइया उसे अमर सुहाग की आशीष दे गये थे और उसने यह क्या किया ? क्या अपनी उन सुहाग-चिह्न चूड़ियों को फोड़कर उसी ने इस अमंगल को अपने निकट नहीं बुला लिया है ?........

सोचते-सोचते उसने आँखें बन्द कर लीं और उसका मन कहाँ-कहाँ—किस-किस युग में कैसी-कैसी घटी घटनाओं को निरखता-परखता भटकने लगा।

तभी उसके मन की आँखों ने देखा—किसी युग की सती सावित्री उसी की तरह पति का सिर गोदी में रक्खे बैठी है। हाथ में मृत्यु-पाश लिये यमराज आते हैं। पति को बांधकर चल देते हैं और वह सती अपने सतीत्व के अस्त्र से यमराज को परास्त करके पति को लौटा लाती है। अपने वैधव्य को सुहाग में बदल लेती है।

यह ध्यान आते ही उसने राजेन्द्र को अपनी बाहों में जकड़ लिया। आँखें मूंदे ही अपने अन्तर्यामी को जोर-जोर से पुकार उठी—

"भगवान्! तुम जानते हो आज तक मन, वचन, कर्म से मैंने इन्हीं को प्यार किया है। इन्हें छोड़ किसी और की स्वप्न में भी कामना नहीं की। मेरा सुहाग मुझ से मत छीनना नाथ !"

झीनी के हृदय से निकली उस विनती को सुनकर बाहर खड़े

चन्दन की आँखें छलछला आईं। तभी राजेन्द्र को चेत आया—वह झीनी की ओर देखता-देखता बोला—"तुम ? ....तुम....मत छुओ.... मत छुओ....मुझे, जो मेरे....साथ....किया....सो किसी के....साथ मत ....करना....बस....यही कहना....चाहता था....बस....अब तुम....ज-ओ ....जाओ....झीनी!........जा....ओ.............।" कहते-कहते वह फिर अचेत होगया।

× × ×

बड़े गुसाईं के जन्म-जन्म के पुण्यों को उनके खाते में से काटकर राजेन्द्र के खाते में जमा की और लिखकर ही भगवान् उसके प्राण वापिस दे पाये या उस सती की आर्त्त-पुकार सुनकर ही उस अभागे को प्राणदान दे सके थे, इस बारे में कोई कुछ नहीं कह सकता पर राजेन्द्र ने जब अपनी उस मृत्यु-शैया को अपने ही हाथों से उठाकर एक ओर रख दिया तो लोगों को कम आश्चर्य नहीं हुआ था।

पर भगवान ! तूने इस राजेन्द्र को कैसी माटी से रचा कि जिसने उसके प्राण बचाये उसी के लिए उसके मन में ऐसी उत्कट घृणा !

झीनी जब भी उस गफूर के घर जाने की बात छेड़कर उसके मन का सन्देह मिटाना चाहती है तभी वह कानों पर हथेलियाँ रखकर चीख पड़ता है—

"बस ! झीनी ! बस !! जो मैंने अपनी इन आँखों से देखा है उसे झुठलाने का दुस्साहस तुम मत करो। नहीं तो मैं पागल हो जाऊँगा।"

एक दिन राजेन्द्र होटल से खा-पीकर जब साँझ को कमरे में आया तो मेज पर एक बड़ा लिफाफा रक्खा देखा। उसने उठा लिया। लौट-पलट कर देखा—उसकी पीठ पर डाकखाने की कोई मुहर नहीं थी।

उसके एक कोने में नन्हे-मन्हे अक्षरों में लिखा पढ़ा—

"आपको अपने बड़े भइया की सौगन्ध है, इस पत्र को एक बार पूरा पढ़ लेना।"—झीनी

पढ़ते ही उस पत्र को राजेन्द्र ने इस तरह एक ओर फेंक दिया जैसे उंगलियों में अचानक आ चिपटने वाले कनखजूरे को फेंक दिया जाता है।

राजेन्द्र को पता ही न था कि उसके इस कुकृत्य को कहीं से किसी की दो और आंखें भी देख रही थीं। वह चन्दन बाहर दीवाल से छिपा सब देख रहा था। उसी के द्वारा वह पत्र उस मेज तक पहुंच पाया था।

बूढ़ा कमरे में आकर रुआंसा-सा बोला--

"इतना गुस्सा भी क्या अच्छा होता है ? बीमारी में जैसी सेवा-सुसूखा बिटिया ने की है, बीमारी की बात सुनकर जैसी रोती-बिलखती वे दौड़ी आई थीं सो क्या मरते दम तक भूल पाऊंगा और एक आप हैं कि....................।"

क्रोध में कांपता राजेन्द्र बीच ही में बोल पड़ा—

"बस ! यही तूने देख पाया ? और उन वैरागियों के अखाड़े में—सारी बस्ती में तेरी इस बिटिया और बड़े गुसाईं की जो चर्चा चल रही है सो नहीं सुन पाई ? जब तू वहां गया था तो कहां थी तेरी यह बिटिया ? बोल ! अब चुप क्यों हो गया ?"

सुनते ही उस बूढ़े ने अपने दांतों से अपनी ही जीभ का अग्रभाग काट लिया। कुछ देर चुप खड़ा रहा फिर कांपते कण्ठ से बोला—

"वे बिटिया के गुरु हैं। कभी भी उसके पास जा सकती है। पर ये साले जो बकते हैं, सब झूठे हैं। अगर इन्हीं की बात सच हो तो मुझे नरक में भी ठौर न मिले.......मेरे बेटे-नाती सब मर जाएं। घर में दिया-बाती करने को भी कोई न रहे......."

कहता-कहता बूढ़ा बाहर चला गया।

तभी बिछौने पर लेटा-लेटा राजेन्द्र अपने ही आप बुड़बुड़ाया—
"लगता है तुझ पर भी उसका जादू चल गया है।"

वह आंखें बन्द किये चुपचाप लेटा था।

तभी वह चन्दन आया और बोला—"यह लीजिये डिस्पेंसरी की चाबियां।"

"क्यों ?"

"नहीं डाक्टर बाबू ! जहां ऐसी सती-सावित्री पर विस्वास नहीं, वहां का अन्न-पानी भी मुझ से नहीं छुआ जाएगा।

मैंने बिटिया को पहचान लिया है। तुम्हें बचाने को बिटिया ने भगवान को याद करके जैसी विनती की थी सो क्या सब कोई कर पाता है ? कहां है ऐसी सती सावित्री अब इस धरती पर ! नहीं भइया ! मैं यहां नहीं रहूंगा। भीख मांग कर पेट भर लूंगा पर यहां नहीं रहूंगा ! ....।" कहता-कहता मेज पर चाबियां रख कर वह चलने लगा। तभी राजेन्द्र बोला—

"अच्छा चन्दन ! तुझे जाना है तो चले जाना, थोड़ी देर यहां बैठ जा।"

सुनकर चन्दन वहीं बैठ गया। राजेन्द्र बोला—"मैंने तुझे सारी बात खोल कर बता दी है सो तू भी क्या यही समझता है कि मैं ही ग़लती पर हूं। तुझे यहां आये पन्द्रह-बीस दिन भी नहीं हुए सो तूने उसे पहचान लिया और मैं जो उसे सालों से जानता हूं सो मेरा पहचानना ग़लत हो गया ? क्यों ?"

जब राजेन्द्र ने उससे पूछा कि इतने दिनों में उसे कैसे पहचान लिया तो उसने उस बात का कोई जवाब नहीं दिया। कुछ देर चुपचाप बैठा रहा, फिर बोला—

'डाक्टर बाबू, मैं गंवार हूं। झूठ-सांच बोलते-बोलते मेरी मति मारी गई है पर अखाड़े के बड़े गुसाईं तो वैरागी महात्मा हैं। सो जाकर एक बार उनसे क्यों नहीं मिल लेते ? उन्हीं से क्यों नहीं पूछते कि क्या बात है ?

"और फिर जब बिटिया वे लिखकर यह चिठिया दे ही दी है तो एक बार इसे पढ़ क्यों नहीं लेते ? पढ़ने में तो कोई बुराई नहीं है ?"

कहते-कहते वह उठा और नीचे पड़े लिफाफे को राजेन्द्र के हाथ में थमा दिया।

राजेन्द्र झीनी के उस लिफाफे को खोलकर पत्र पढ़ने लगा—

"छोटे डाक्टर बाबू !

न जाने कैसी अशुभ घड़ी में यह कहकर चली आई थी कि मेरी दिदिया जिस माटी की बनी है उसी से भगवान् ने मुझे नहीं बनाया है पर अब लगता है मेरे शरीर की माटी दिदिया से भी अधिक नरम है।

वे जो एक बार गईं सो आज तक नहीं लौटीं और मैं तुम्हारी दी हुई इतनी बड़ी घृणा को भी पीकर तुम से दूर नहीं जा पाती।

डाक्टर बाबू! उस दिन के बाद आप से घृणा भी कम नहीं की है पर न जाने कौन कब उस घृणा के समुद्र को मथकर तुम्हारे लिए इस मन में अमृत-सी मधुरिमा घोल गया सो मैं किसी भी तरह न जान पायी।

तुम्हारी बातें देख सुनकर मन करता है कि चुपचाप यहां से खिसक जाऊँ किन्तु मेरे आंचल का छोर तो तुम्हारे ही हाथों में है। क्या करूं? लगता है छुड़ाकर चले जाना भी अब मेरे वश की बात नहीं रही है।

डाक्टर बाबू ! कैसे समझाऊँ कि मैंने तुम्हें प्यार ही नहीं किया है बल्कि मन ही मन वरण भी कर लिया है।

सच, कभी जी चाहता है आत्म-हत्या कर लूं पर सोचती हूं जो कुछ तुम से पाया है सो इसी 'विष-कलश' से तो! कैसे छोड़ दूं मैं यह अपनी काया ? पर ग्रहण भी कैसे किये रहूं ? न जी पाती हूं, न मर पाती हूं।

क्या मेरे ग्रहण करने के ढंग में ही कहीं भूल है जिससे हमारे निष्कलंक प्रेम पर भी यह ग्रहण-सा लग गया है ?

नहीं जानती थी कि आपके अन्दर अविश्वास के ऐसे ज्वालामुखी छिपे पड़े हैं जो जरा-सी चिनगारी पाकर ऐसा निर्मम विस्फोट कर उठेंगे। मुझ से आकर किसी दिन सब साफ-साफ पूछ क्यों नहीं लिया ?

कल तुम्हारी डिस्पैन्सरी के नये नोकर चंदन से सारी बातें सुनीं

तो हैरान रह गई। उसी ने बताया है कि जब मैं बाग के पीछे बैठी गफूर से बातें कर रही थी तो बापू तुम्हें लेकर वहाँ पहुँचे थे और उन्हीं ने दूर से हम दोनों को दिखला दिया था। इस सब षड्यन्त्र के पीछे उस राक्षस वापू का ही हाथ था, सो तो मैं बाद में जान पाई हूँ।

बात यह थी कि एक दिन मुझे स्कूल जाने में देर हो गई थी। जब डोमों की ऊजड़ बस्ती के पास पहुँची तो वह आवारा गफूर रास्ते में मिल गया। बोला—'अपनो दिदिया से मिलना चाहती हो?' जानते हो मैं उससे कितनी नफरत करती हूँ, किन्तु सुनकर पल भर में सब कुछ भूल गई। मुँह से निकल गया—'हाँ, कहाँ है?' बोला—'जब से तुमने चाबुक से मारा है तभी से मैं तुम्हें अपनी बहन मानने लगा हूँ। लेकिन लोग तो अब भी मुझे आवारा समझते हैं। कोई यहाँ बात करते देख लेगा तो तुम्हारी बदनामी होगी। चलो उस बगीचे के पीछे बैठकर बताऊँगा कि तुम्हारी दिदिया कहाँ है और कैसे मिल सकती है?'

मैं उसके साथ बगीचे के पीछे चली गई। वहाँ दिदिया के सम्बंध में जाने कैसी-कैसी मनगढ़न्त कहानियाँ सुनाता रहा और मैंने विश्वास कर लिया। तब बोला—'तुम्हारी दिदिया इसी बस्ती में है। एक गुंडे ने अपने मकान में बन्द कर रक्खा है। एक दिन जब घर से निकलकर अकेली स्टेशन की ओर जा रही थी तो वह पकड़ लाया था। वह उन्हें ले जाकर कहीं बेच देना चाहता है। तुम कहो तो मैं छुड़वा दूं।'

सुनकर मैं अपनी दिदिया से मिलने और उन्हें छुड़वाकर घर ले आने के लिए आतुर हो उठी।

वह अपने मकान के पिछवाड़े टूटे से घर में ले गया। मुझे एक खटिया पर बिठाकर बोला—'झीनी, अगर तुम मुझ पर सचमुच भरोसा करती हो तो अपने इस मुसलमान भाई के हाथ का एक गिलास पानी पी लो।'

वह पानी लाया और मैंने पी लिया। वह बोला—'तुम यहीं, बैठो,

मैं तुम्हारी दिदिया को छुड़ाने की कोशिश करता हूँ।' थोड़ी देर बाद वह लौटा आया। तब तक मेरी हालत बहुत खराब हो चुकी थी।

उस हत्यारे ने गिलास के पानी में न जाने ऐसा क्या मिला दिया था कि मेरी जीभ ऐंठने लगी। आँखें किसी भी तरह खुल नहीं पा रही थीं। बस, कानों से धीमा-धीमा सुनाई पड़ता था।

तभी किसी ने घबरा कर कहा—'पुलिस! पुलिस!! जुए की खबर लग गई है। भागो!' मुझ से चला नहीं जाता था। वह जैसे तैसे कंधे का सहारा देकर मुझे अपने घर ले आया।

जब मेरी जीभ ऐंठकर बेकार हो गई तब मैं समझ पाई कि बापू के इस नये चेले गफूर के जाल में फँस गई हूँ।

भागना चाहा पर पैर टूट गये थे, दो पग चलकर लड़खड़ाती गिर गई। चीखना-पुकारना चाहा पर मुंह से किसी भी तरह बोल ही न फूटा। जब उसके मकान में घुस रही थी तभी तुमने पुकारा—मैं कुछ-कुछ सुन सकती थी पर बोल नहीं पाती थी। सो तुम्हें जवाब कैसे देती?

घर के अन्दर पहुँचते ही गफूर के अब्बा और अम्मा दोनों उस पर बरस पड़े। जाने क्या-क्या कह रहे थे, सो मुझे कुछ भी सुनाई न पड़ा। बस इतना सुन पड़ा—'हरामजादे! तूने इसका यह क्या हाल किया है? क्यों लाया इसे यहाँ—तुझे एक दिन फाँसी लगेगी....इसे....इसके घर.... पहुँचा.... ।' फिर धीरे-धीरे मेरे कान भी बेकार होगये। जब चेत आया तो देखा मैं पुलिस कोतवाली में लोहे के सीखचों वाली कोठरी में बन्द हूँ। कोठरी के इधर-उधर घूमते सिपाहियों की बातचीत से पता लगा कि मुझको लेकर बस्ती में बहुत बड़ा झगड़ा हो गया था। उसके बाद की बात तो तुम जानती ही हो।

अब बताओ इसमें कहाँ है मेरा दोष? कहोगे उस आवारे की बात पर विश्वास क्यों किया? मैं कहती हूँ हम लोगों के मन में यह 'विश्वास' नाम की वस्तु दे कर ही तो भगवान् ने हमें कहीं का नहीं रक्खा है। नहीं तो सीता-माँ ही 'निशाचर रावण' पर विश्वास करके

क्यों इतने बड़े संकट में जा पड़तीं ? इस विश्वास को लेकर ही तो—

डाक्टर बाबू ! सोचा था अपनी सफाई देकर कभी छोटी नहीं बनूंगी पर न जाने भगवान ने हम औरतों का मन किस तरह का बनाया है कि एक बार जो गलती से किसी को प्यार कर बैठें तो फिर उसके सामने कोई वश नहीं चलता। जिसे एक बार आंखों में स्नेह भर कर देख लें तो फिर उसके बिना चैन नहीं पड़ता।

डाक्टर बाबू ! हमारी इसी कमजोरी को लेकर आप लोग अपने बड़प्पन की डींगें मारते नहीं थकते और हम यह सब समझते हुए भी किसी तरह अपनी गर्दन तुम्हारे हाथों से नहीं छुड़ा पातीं। इससे बड़ा अचरज इस धरती पर और क्या हो सकता है ?

न जाने किस जन्म के पुण्यों से आपको एक दिन पा लिया था फिर नहीं जानती कि कौन से पुरबले पाप जागे कि आज पड़ोस में बस कर भी एक बार मन भर कर देख लेने के लिए तरसती रहती हूं !

सोचा था अम्मां के न रहने पर तुम अवश्य आओगे। दिन रात तुम्हारी राह ही देखती रही पर तुम न आये। हां, एक-दो बातों की खबर और देनी है। दिदिया जो रुपये छोड़ गईं थीं सो मेरे पीछे वह बापू भगवान् की मूर्ति के नीचे से उखाड़ कर ले गया।

घर में अन्न का दाना नहीं था। किसी के घर जाकर मेहनत-मजूरी करने की आदत दिदिया ने पड़ने ही न दी थी। सो दो-तीन दिन तक उसी दालान में पानी पी-पीकर किसी तरह भूख की आग बुझाती पड़ी रही।

फिर एक दिन भगवान की कथा सुनने या भूख से बिलबिलाती भगवान् का प्रसाद पाने के लोभ से मैं बड़े गुसाईं के अखाड़े में जा पहुंची।

वहां जाकर इन थोड़े से महीनों में ही जो कुछ पाया है सो लगता है कहीं अन्यत्र वर्षों में भी प्राप्त न कर पाती।

अब सुनती हूं कि मुझे लेकर वहां भी कई तरह की चर्चाएं चल

पड़ी हैं। विना कुछ किये कैसे-कैसे अपवाद इस दुनिया में चल पड़ते हैं, इसका भी कुछ ठिकाना है ?

डाक्टर बाबू ! तुम्हारे पैरों पड़ती हूँ। एक बार जा कर उन बड़े गुसाइँ से मिल आओ। वे अति भले वैरागी महात्मा हैं। वहाँ जाकर कुछ न कुछ सीखने को ही मिलेगा। बस, अब मैं बहुत थक गयी हूँ। मेरा प्रणाम स्वीकार करना।

तुम्हारी ही—
झीनी"

पत्र पढ़ कर उसका चेहरा पीला पड़ गया। वह चुपचाप बिछौने पर पड़ गया। बूढ़ा साँस रोके वहाँ खड़ा था। बोला—"डाक्टर बाबू ! क्या लिखा है बिटिया ने ?"

राजेन्द्र ने दुखी होकर जवाब दिया—

"चन्दन ! अब क्या करूँ ?"

"क्यों, क्या हुआ ?"

"सोचता हूँ तुम्हारी बिटिया को अब मुँह कैसे दिखाऊँगा ?"

"बात क्या है ?"

तभी सीढ़ियों पर किसी की पदध्वनि सुनाई पड़ी। चंदन कमरे से बाहर निकल आया।

बाहर आते ही आनन्दातिरेक में गद्गद कण्ठ से बोला—"भइया, बड़े गुसाइँ ने दरसन दिये हैं।" सुनकर राजेन्द्र मारे आत्मग्लानि के पानी-पानी हो गया।

"चन्दन ने भाग कर धरती पर बिछौना बिछा दिया। राजेन्द्र ने उन्हें प्रणाम करके कहा—"आइये महाराज ! विराजिये !!"

महाराज चुपचाप उस बिछौने पर बैठ गये। उनके वहां आ पहुचने का सुमम्वाद न जाने किसे सुनाने चन्दन वहां से चुपचाप खिसक गया।

राजेन्द्र बड़े गुसाइँ से थोड़ा दूर उसी बिछौने के कोने पर सिर झुका कर बैठ गया। कुछ देर दोनों में से कोई भी न बोला।

राजेन्द्र ने अपना समस्त साहस बटोर कर बड़े गुसाईं की ओर देखा। वे चिन्तित दिखाई पड़ रहे थे। कुछ कहने के लिए उनके होंठ बार-बार हिल उठते हैं पर कुछ भी बोल नहीं पाते।

थोड़ी ही देर में बड़े गुसाईं ने अपने को सम्भाल लिया। खिड़की से बाहर आकाश में बिखरे तारों को देखते-देखते बोले—

"क्या आप भी उस अपवाद पर विश्वास करते हैं ?"

राजेन्द्र सकुचाता सा बोला—"नहीं।"

सुनकर बाबा गोविन्ददास मुंह बाये राजेन्द्र की ओर देखते के देखते रह गये। बोले—

"लेकिन मुझे तो आज दोपहर को ही उन बूढ़े गुसाईं ने जाकर बताया था कि…"

बीच ही में वह बोला—

"तब करता था।"

"इतने ही समय में विचार कैसे बदल गया !"

"अभी-अभी एक चिट्ठी पढ़ कर।"

एक दबी उसांस छोड़कर बाबा जी ने आंखें मूंद लीं। उनके चेहरे पर न जाने कैसी भव्यता सी छा गई।

आंखें मूंदे ही बोले—

"गुसाईं ! तुम इतनी बड़ी आत्मा का निष्कलंक प्रेम पाकर भी अपने कुसंस्कार का मोह नहीं तोड़ पाये ?

"उसे पहचान क्यों नहीं पाते ? मैं तो देखते ही पहचान गया था गुसाईं ! मैं उसे ज्ञान की दीक्षा देने चला था और वह मुझे रस की दीक्षा देकर चली आई है।" कहकर कुछ देर वे शान्त बैठे रहे फिर कुछ मुस्काते से बोले—

"सारे जीवन की संचित मेरी ज्ञान-गरिमा एक क्षण में उसके चरणों पर बिखर गई।

जाने कितने जन्मों के पुण्य-प्रताप से ऐसी आत्माओं का सान्निध्य मिलता है और एक तुम हो कि अज्ञानवश उसे त्यागे बैठे हो।"

"लेकिन अब तो""""" ।"

"इस 'अब' को बदलते देर कितनी लगती है गुसाईं ! तुमने सुना होगा किसी किसी मृग की नाभि में कस्तूरी होती है और वह सदा उस सुगन्धि के उन्माद में अन्धा हो उसी को खोजता भटकता रहता है। जीवन-भर इस सत्य को नहीं जान पाता कि कस्तूरी उसी की नाभि में है।"

"बड़े गुसाईं, भूल मुझसे हो गई है, आज मैं स्वीकार कर लेता हूँ।"

"स्वीकार कर लेने से ही नहीं चलेगा गुसाईं। यदि अब भी नहीं चेते तो जो पारस-मणि बिना प्रयास के ही हाथ लग गई है, उसे खोकर जीवन-भर एक पल के लिए भी चैन नहीं पाओगे।"

कहकर वे रुक गये, फिर बोले—"अच्छा गुसाईं, अब चलता हूँ। कभी मौज आये तो आश्रम आ जाया करो।"

"थोड़ी देर रुक जाइये बड़े गुसाईं, मुझे कुछ पूछना है।"

सहसा दीवाल पर टँगी फोटो देखकर उनका चेहरा खिल उठा। बोले—"यह कौन हैं गुसाईं ?"

"मेरे बड़े भइया।"

"तुम्हारे बड़े भइया ?" कहते-कहते उन्होंने राजेन्द्र को खींचकर छाती से लगा लिया। फिर शान्त होकर बोले—

"यह मेरे काशी के गुरु-भाई हैं।" कहते-कहते उन्होंने आँखें बन्द कर लीं। फिर मुस्काते से बोले—

"गुरु-भाई ही क्यों—यही तो सचमुच मेरे आध्यात्मिक गुरु हैं।" कहकर वे चुप हो गये।

फिर उस फोटो को देखते-देखते बोले—

"भगवान् में इनकी श्रद्धा भक्ति और अटूट विश्वास देखकर मेरा तो जीवन ही बदल गया। संसार त्याग कर मैं वैरागी बना और उन्हीं

के सहोदर होकर तुम किसी के लिए मन में इतने दिनों तक व्यर्थ ही घृणा बसाये कैसे बैठे रहे ?

गुसाईं, अब तो अपराध करने पर तुम्हारे कान मसलने का अधिकार भी अनायास ही मिल गया है, सो भविष्य में इस बात को भूल मत जाना। संसार के व्यवहार से अब मैं तुम्हारा बड़ा भाई बन गया हूँ।" कहकर वे मन्द-मन्द मुस्काने लगे।

"तो यह सब बातें उस दुष्ट बूढ़े ने ही आप तक पहुँचाई थीं ? न जाने कहाँ-कहाँ जाकर मेरी चुगली किया करता है।"

सुनकर बड़े गुसाईं बोले—

"तुम्हारे भइया भी ऐसे ही किसी दुष्ट की बातें काशी में सुनाते-सुनाते थकते नहीं थे। संसार में ऐसे भले दुष्ट भी होते हैं गुसाईं ! ....क्या नाम था उसका ? स्मरण नहीं आता....हाँ....खंजन....खंजन ही तो था।"

खंजन का नाम सुनते ही राजेन्द्र का चेहरा पीला पड़ गया। तभी बड़े गुसाईं बोले—

"क्यों क्या हुआ ?"

"बड़े गुसाईं, वर्षों से एक बात सोचता आ रहा हूँ पर समझ नहीं पाता। मैं किसी को दुःख नहीं देना चाहता। दुःख का सारा बोझ स्वयं उठाकर ही चलना चाहता हूँ, पर न जाने क्यों जो भी मेरे निकट आता है उसी के जीवन में आफत मुसीबत के खाई-खंदक खुद जाते हैं। ऐसा क्यों होता है बड़े गुसाईं ?"

"गुसाईं, हम सब को यही लगता है कि हम किसी को दुःख नहीं देते—नहीं देना चाहते— हमारी अपनी ही दुर्बलता कब कैसे दूसरों के जीवन में दारुण दुःख की सृष्टि कर देती है सो उसका हमें कभी ध्यान ही नहीं आता।

"यही तो एक बात मुझे दिन रात खाये जाती है। बताइये ऐसा क्यों होता है ?"

"गुसाईं, तुम्हारे बारे में जितना जानता हूँ, उससे तो यही लगता है कि तुम्हारे अपने जीवन का अर्थ उद्देश्य क्या है यही अब तक तुम नहीं जान पाये हो।"

"हाँ, सो तो है ही।"

"भोले गुसाईं, अपने जीवन की सफलता के भीतर से ही तो कोई किसी का जीवन सफल बना पाता है। नहीं तो जीवन की व्यर्थता से उसका अपना जीवन ही नष्ट नहीं होता बल्कि दूसरों को भी सदा अनचाहे क्लेश पहुँचाता रहता है।"

"शायद ऐसा ही हो, पर मैं क्या करूँ ?"

"आज तक तुम जिये हो अपने लिए गुसाईं ! अब दूसरों के लिए जीना सीखो। बस तभी तुम्हारा जीवन सार्थक हो उठेगा। जो तुम्हारे लिए महीनों सुबह शाम थाली परोस कर भिजवाती रही, सो कब से तुम्हारे पड़ोस में भूखी प्यासी पड़ी है, उस ओर तुम्हारा ध्यान क्यों नहीं गया ? इसीलिए न कि तुम जीते हो मात्र अपने सुख के लिए ?

जिस सहज भाव से हम अपनी इन साँसों को लेते, छोड़ते हैं इसी तरह जीवन के इन सुखों दुःखों को भी ग्रहण करते चलो। सुख में फूलो मत—दुःख से भागो मत। बस, यही है अपने और दूसरे के जीवन को सुखी बनाने का मूल मंत्र। बस गुसाईं, आज तक यही जान पाया हूँ।"

बड़े गुसाईं भाव-विभोर हो आँखें मूँदे बोले जा रहे थे और राजेन्द्र का अन्तर्यामी आ पहुँचा था झीनी के पास जो पास ही की झोंपड़ी में भूखी प्यासी, मन में न जाने कैसी मर्मान्तक पीड़ा छिपाये जिये जा रही थी।

बैठा-बैठा सोचने लगा—ऐसी दशा में पिछले इतने महीने उसने कैसे बिताये होंगे ? यह ध्यान आते ही उसका मन झीनी तक जा पहुँचने के लिए छटपटाने लगा।

तभी बड़े गुसाईं राजेन्द्र की ओर देखकर मुस्काते-मुस्काते बोले—

"अच्छा गुसाईं ! अब चलता हूँ। तुम्हारी हित-कामना से जो

कड़वा-मीठा बोल गया हूँ उसके लिए बुरा न मानना भाई !" कहते-कहते बाबा गोविन्द दास ने अपना आसन छोड़ दिया।

× × × ×

बड़े गुसाईं के चले जाने पर राजेन्द्र ने अपनी खिड़की खोली और झीनी के आंगन की ओर देखा। शरत् की चांदनी में उसने देखा कि वह दुष्ट बूढ़ा चन्दन झीनी के छप्पर से निकल कर गली में आ गया है।

तभी उसने देखा—दालान के बाहर छान का कोना पकड़े दीवाल का सहारा लिये एक निश्चल मूर्ति सम्पूर्ण प्राण और मन बिछाये खड़ी है।

इतनी दूर से उसके चेहरे के भाव को देख पाना किसी भी प्रकार सम्भव नहीं था किन्तु राजेन्द्र के मन की आंखों ने उसकी भीगी पलकों के झपकने से लेकर ओठों के पास वाले नन्हे तिल का कांपना भी भली भांति देख लिया।

उसका मन करने लगा कि बिना सीढ़ी उतरे एक ही छलांग में वह झीनी के पास जा पहुँचे।

उसकी सांसें गहरी होती गईं। वह अपनी सीढ़ियों से धड़धड़ाता उतरा और झीनी के आंगन में जा पहुंचा। झीनी अब भी जहां की वहां खड़ी थी। राजेन्द्र को अचानक आंगन में खड़ा देख वह वहां से हटकर न जानें क्या सोचती धीरे-धीरे कमरे में चली गई।

२८

राजेन्द्र जब झीनी के द्वार पर पहुँचा तो देखा—लकड़ी की दीवट पर माटी का दीया जल रहा है। द्वार के पास ही खजूर की एक चटाई पर साधारण सी दरी बिछी है। उसी के कोने पर झीनी चुपचाप सिर झुकाये खड़ी है।

राजेन्द्र ने जैसे ही देहरी पर पैर रक्खा तो उसने झुक कर उसके पैरों पर अपना माथा टेक दिया।

× × × ×

विरही जीवन का ; मन में भरा उद्वेग जब शान्त हुआ तो राजेन्द्र बोला—"झीनी ! जब चन्दन से तुमने जान लिया कि तुम्हारे प्रति मेरा मन साफ हो गया है तो मेरे पास तुरन्त चली क्यों नहीं आई। यहाँ इस छान के पास क्यों खड़ी रही ?"

"सदा दौड़-दौड़ कर पहुँच जाती थी इसी लिए तो इतना दुःख उठाना पड़ा ! नहीं जी, अब तो मुझे भी अपना मूल्य बताकर ही आगे चलना होगा।"

"नहीं झीनी ! तुम्हारा जितना-जैसा मूल्य बड़े गुसाईं अभी-अभी बता गये हैं सो उसे सुनकर तो मेरे प्राण सूख गये हैं। ऊपर से तुम भी अपना मूल्य बताकर चली तो मैं तो मर ही.........।"

बीच ही में झीनी अपनी हथेली से उसका मुँह बन्द करती बोली—"तुम्हें मेरी सौगन्ध है जो कभी ऐसी मरने जीने की बात मुँह से निकाली !"

सुनकर राजेन्द्र का चेहरा अति दयनीय हो उठा। उसके चेहरे को देखकर झीनी को कुछ दिनों पूर्व की एक बात याद हो आई। याद आते ही उसका रोम-रोम न जाने कैसी प्रार्थना से भर उठा।

राजेन्द्र की गोद में अपना सिर इधर-उधर करके छिपाती सी बोली—

"जानते हो मुझे तुम्हारी बीमारी की खबर बिना किसी के बताये ही आश्रम में लग गई थी ? सच, उन दिनों खाना-पीना कुछ भी तो नहीं सुहाता था। आंख बन्द करके पूजा करने बैठती तो शून्य में किसी का धुंधला-धुंधला दयनीय चेहरा दिख जाता था। पर उसे किसी भी तरह पहचान नहीं पाती थी। उस रात पल भर के लिए भी चैन नहीं आ रहा था। यही बात पूछने मैं बड़े गुसाईं के यहां उतनी रात गये जा पहुंची थी। तभी यह चन्दन भी पहुंच गया—और एक तुम हो कि उन जैसे वैरागी पर भी अविश्वास कर बैठे।"

सुनकर राजेन्द्र ने उसका मुंह सीधा करके उसकी आंखों में कुछ पढ़ना चाहा पर किसी भी तरह झीनी ने वैसा नहीं होने दिया। वह मुंह छिपाये जहां की तहां पड़ी रही।

तभी राजेन्द्र बोला—"झीनी ! सच बताना यह बात ठीक है ?"

"क्या ?"

"यही कि बड़े गुसाईं ने तुम्हारे पैरों पर सिर रख दिया था।"

सुनते ही वह उठकर सीधी बैठ गई। अपनी जीभ का अग्रभाग दांतों से दबा कर बोली—

"बड़े गुसाईं को हर कोई नहीं समझ सकता। वे आंखें बन्द करके न जाने कितने जन्मों की कैसी-कैसी बातें देख-देख कर क्या-क्या पुकारने लगते हैं।

उस दिन मेरे पैरों को निमित्त मानकर न जाने किस देवी-देवता के ध्यान में डूबे गद्‌गद् हो उठे थे।

डाक्टर बाबू ! सुनकर तुम विश्वास नहीं करोगे। कभी-कभी तो

उनकी बातें सुनकर अचरज होता है। एक दिन की बात है। पूर्णमासी का दिन था। सांझ को कीर्तन के बाद सदा की भाँति उन्होंने भगवान् की कथा नहीं सुनाई। प्रसाद लेकर खिन्न चित्त अपनी कुटिया में चले गये।

उन्हें इस तरह उदास देखकर कुछ आश्रमवासियों के साथ मैं भी उनके पास चली गई। वे आँखें मूंदे उदास बैठे थे। एक वैष्णवी ने जब उदासी का कारण पूछा तो बोले—

"लगता है आज कहीं कोई प्रियजन संकट में है।"

और थोड़े ही दिनों बाद खबर मिली कि उसी पिछली पूर्णमासी को नवद्वीप में किसी वैष्णवी का स्वर्गवास हो गया था। उसे बड़े गुसाईं ने ही बचपन से पाल-पोस कर बड़ा किया था।

सच कहती हूं डाक्टर बाबू! जब बड़े गुसाईं भगवान् की युगल जोड़ी के पास बैठते हैं तो लगता है जैसे भगवान् की मूर्ति से उनका चेहरा बहुत कुछ मिलता-जुलता है।"

"झीनी! मैंने कभी उस तरह भगवान का ध्यान नहीं किया, न कभी भक्ति में डूब कर उनकी मूर्ति की ओर निहारा ही है। हो सकता है तुम्हारी बात ही सच हो पर एक बात मेरी समझ में कैसे भी नहीं आती कि तुम्हारे देवतास्वरूप बड़े गुसाईं के प्रति उन्हीं के आश्रम-वासियों के मन में ऐसी दुर्भावनायें क्यों जागती हैं?"

"डाक्टर बाबू! यही बात एक दिन मैंने भी उनसे पूछी थी। न जाने क्यों बाबा जी मुझे 'कल्याणी' कहकर पुकारते हैं। मेरी बात सुन कर उन्होंने आँखें मूंद लीं फिर कुछ मुस्काते से बोले—

"कल्याणी! सरोवर के निर्मल जल में कितने मनोहर कमल खिलते हैं पर कछुए की दृष्टि उनपर नहीं जाती। उसे तो कीचड़ में मुंह धंसा कर 'सूं-सूं' करना ही अधिक भाता है।

उधर भौंरों के मन की बात देखो कि सांझ होने पर यदि कमल की पंखुड़ियों में मुंद जाएं तो उन अति कोमल पंखुड़ियों को भी नहीं काट

पाते। ऐसी ही होती है कमलों के प्रति उनकी प्रीति ! सो कल्याणी ! यह तो अपनी-अपनी प्रवृत्ति है।"

"मैंने पूछा—"बड़े गुसाईं ! क्या इन्हीं भली-बुरी प्रवृत्तियों के वश में होकर ही सारे जीवन चलते जाना होगा ? क्या हमारे लिए यही एक मार्ग निर्दिष्ट है ? सुनकर बोले—

"यह जप तप कीर्तन, सेवा-साधना इसी लिए तो की जाती है कल्याणी ! कि हमारा मन निर्मल हो और जब तक ऐसा नहीं होता तब तक—

'समविषममतीनां मतमनु सरिस यथा रज्जुखण्डः सर्पादिधियाम्'

"राजेन्द्र बोला—

"क्या मतलब ?"

"मतलब यह कि एक ही रस्सी का टुकड़ा भ्रान्त व्यक्ति के लिए सर्प, माला आदि और ज्ञानी को रस्सी के रूप में ही दिखाई पड़ता है। फिर अन्त में गुसाईं बोले—

"कल्याणी ! यदि मुझ रस्सी को भी संसार सर्प समझ कर मारने दौड़े तो मैं क्या करूं ?"

सुनकर राजेन्द्र हंसता-हंसता बोला—"क्या करें, क्या न करें सो तो तुम्हारे बड़े गुसाईं ही जानें पर यह तो बताओ झीनी ! इन श्लोकों मंत्रों के साथ-साथ और क्या-क्या आश्रम से सीख आई हो ?"

"सो क्यों बताऊं जी ! बिना बताये ही कितनी बातें जान लेते हो कि कौन, कब किसी के रूप पर मुग्ध होकर नया ठिकाना खोजने किसी के घर पर जा पहुंची सो....... ....।"

सुनकर राजेन्द्र का चेहरा उतर गया। बोला—"झीनी ! वचन दो कि यह बात कभी अपने मुंह पर नहीं लाओगी। यह याद दिलाकर क्या सदा ही मुझे दण्ड देती रहोगी ?"

झीनी हंसती बोली—

"क्यों जी, ज़रा-सी बात पर तिलमिला गये ? और खुद जो बिना

अपराध कै इतने दिनों से जलाये जा रहे थे सो ?" कहकर राजेन्द्र की ओर कौतुकभरी दृष्टि से देखती रही फिर बोली—

"और मैं भी तुम्हारी बात सुने बिना कहने लगूं—'बस, मैं कुछ नहीं सुनना चाहती' तो डाक्टर बाबू ?"

"तो क्या तुम भी वही गलती करोगी जो मैं करता आ रहा हूं ?"

"क्यों नहीं करूंगी ? क्या गलती करने का ठेका तुम्हीं ने ले रक्खा है ?"

"लगता है बड़े गुसाईं ने तुझे इन मंत्र-तंत्रों के साथ दुष्टताई भी कम नहीं सिखाई है ?" कहते-कहते उसने झीनी का सिर दोनों हथेलियों के बीच खींचकर थपथपा दिया।

कुछ देर दोनों एक दूसरे को न जाने कैसी लजाई आंखों से देखते रहे। फिर राजेन्द्र बोला—

"झीनी, बिना ब्याह के ऐसे कब तक चलेगा ?"

हँसती बोली—"ब्याह करके ही क्या करोगे डाक्टर बाबू। जिन्होंने वेद-मंत्रों के बल पर ब्याह कर लिया उन्हें भी तो रोज़ लड़ते-झगड़ते एक-दूसरे पर दांत किटकिटाते देखती हूं। सच, डाक्टर बाबू, कभी-कभी सोचती हूं—ब्याह के मंत्र सहमरण की बुद्धि तो दे सकते हैं किन्तु सहजीवन का यह माधुर्य नहीं दे पाते।"

"सो क्या बिना ब्याह के ही ऐसा चलता रहेगा ?"

सुनकर झीनी का मन विरस हो उठा। कुछ देर न जाने क्या सोचती चुपचाप बैठी रही फिर बोली—

"डाक्टर बाबू, उस संकट के दिन से पिछली रात हम ब्याह की बात ही तो सोच रहे थे और दूसरे दिन ही यह विपद का वज्र हमारे सिर पर आ टूटा था। सच, अब तो ब्याह की बात छेड़ते भी डर····।" कहते-कहते वह फिर राजेन्द्र की गोद में मुंह छिपाती औंधी होकर सुबकने लगी। राजेन्द्र धीरे-धीरे उसकी पीठ सहलाने लगा।

उसी समय दालान से किसी की दो सजल आँखों ने उन दोनों को इस तरह एक दूसरे को दुलराते, रूठते और मनाते देखा।

संतोष की एक दबी सांस निकलकर उस दालान में चुपचाप बिखर गई। साथ ही न जाने कितने आनन्दाश्रु धरती पर झरकर सूख गये। लगा जैसे कोई किसी की मूर्त मंगल कामना पर चुपचाप अर्घ्य चढ़ा रही हो।

एक दिन इसी दालान से उठकर वह आगरे के पास बसते किन्हीं उच्चजाति के वंशजों की नाक काटने चल पड़ी थी किन्तु विधि के विधान या समाज के तंत्र ने उसी को तोड़ डाला है।

न जाने कैसे-कैसे जघन्य कुकृत्यों को करने के लिए वह विवश की गई—उसी से क्षत-विक्षत होकर अपने अन्दर ही पाप का उगता अंकुर लिए लौट आई है जिसके मर्मान्तिक विष से वह तिल-तिलकर गलती जा रही है।

स्थिति के परिवर्तन से मनुष्य का शरीर कैसे बदल जाता है, यह देखकर सचमुच अवाक् हो जाना पड़ता है। आज उसे देखकर कौन कहेगा कि यह वही सौन्दर्य की प्रतिमा रामी है!

कमरे के अन्दर एक बहन अपने कल्पित स्वर्गाकाश में कभी पंख पसारे उड़ती है, कभी यौवन के मधु-रस में डूब-डूब कर सिहर उठती है और दूसरी बहन अपनी आसन्न मृत्यु के फड़फड़ाते परों की मनहूस आवाज़ सुन-सुनकर कांप उठती है।

२६

आधी से अधिक रात बीत गई है। अभी-अभी रोती-बिलखती झीनी की आँख लग गई है। राजेन्द्र झीनी के आँगन में खड़े पीपल के पेड़ की ओर देख रहा है जहाँ आज सुबह उठते ही उसने रामी की लाश को रस्सी के फंदे में झूलते देखा था।

रामी की वे सुन्दर पुतलियाँ बाहर को निकल आई थीं। जीभ खिंचकर उस छोटी सी ठोढ़ी पर लटक आई थी। वह चाँद सा उज्ज्वल चेहरा नीला पड़ गया था। लगता था जैसे वे फटी आँखें चाहती थीं—प्रतिशोध ! उस अन्याय के लिए जो इस धरती पर कभी चुपचाप और कभी सिर धुन-धुन कर उसने सहा था।

रुँधे कण्ठ से वह बड़बड़ाया—

"रामी ! इस धरती पर तुमने कितने दुःख-दर्द सहे थे..............

ओ लोक परलोक के स्वामी ! ओ चर अचर के विधाता ! उसकी आत्मा को शान्ति देना।"

आज न जाने कौन उसकी नींद हर ले गया है। आँखें मीच कर लेटता है तभी उसे लगता है जैसे कमरे में कहीं कोई छाया घूम रही है। सारा कमरा भाँय-भाँय कर रहा है। जरा सी भी आहट सुनते ही उसका कलेजा धक्-धक् करने लगता है। नहीं..............आज कैसे भी वह न सो पायेगा।

उसे लगता है—जैसे सब जगह, सब ठौर—कमरा, गली और ग्रह-नक्षत्र भरे आकाश में, पीपल के पटपटाते एक-एक पत्ते में रामी की न्याय माँगती फटी आँखें ही उभर आई हैं।

जिसके कलंक की कहानी आज घर-घर कही-सुनी जा रही है—

जो कुमारी हो कर भी माँ बनने जा रही थी, जिसकी निदारुण वेदना का गुप्त इतिहास इस धरती पर कोई नहीं जानता सो उसी की याद आते ही राजेन्द्र उसके साथ किये अपने किसी प्रच्छन्न पाप को याद कर-कर के बार-बार कांप जाता है।

सोचने लगा—यही है हमारा समाज जिसने अपराध किया है वह निरापद है और जिसने उपायहीन वेदना से रोते-रोते सब सहा था सो और अधिक न सह कर गले में फंदा डालकर चली गई है।

इससे बड़ी प्रवंचना इस धरती पर और क्या हो सकती है? शायद अब वह दिन दूर नहीं है जब यहां के पाप-पुण्य का फैसला स्वर्ग-नरक में न होकर इसी धरती पर हुआ करेगा, पर आज के संस्कारों से जो अंधे हो रहे हैं वे कभी यह स्वीकार नहीं करेंगे।

सहसा राजेन्द्र को लगा जैसे रामी कहीं रो रही है। वह रोने की आवाज धीरे-धीरे तीव्र से तीव्रतर हो होकर आने लगी। मारे भय के उसे लगा जैसे रामी की ठण्डी-ठण्डी सांसें उसके कर्ण-रन्ध्रों को छू-छू जाती हैं।

भय से पत्थर हुई उसकी पुतलियों ने तभी देखा कि पीपल की जड़ के पास एक काली छाया सी हिचकती कलपती हिलडुल रही है।

उसी समय पीपल के पेड़ से 'घू-घू' करता एक उलूक पर फड़फड़ा कर उड़ गया। सुनकर उसका कलेजा कांप गया—।

सोचने लगा—क्या सचमुच इस संसार में भूत-प्रेत होते हैं? क्या यह रामी की प्रेतात्मा ही भटकती घूम रही है?

उसने लालटेन जलाकर पास ही लेटी झीनी को धीरे से जगाया। झीनी न जाने कैसा दुःस्वप्न देखती हड़बड़ाती सी जाग पड़ी। रोते-रोते उसकी आंखें सूज गईं थीं। झीनी के उस पीले चेहरे को देख कर राजेन्द्र बोला—

"झीनी! उस पीपल की जड़ पर बैठा कोई रो रहा है! कौन हो सकता है।"

Sri Pratap College,

सुनकर झीनी घबराई सी खिड़की के पास आ खड़ी हुई। विस्मय में डूबी बोली—

"हाय राम ! यह कौन है ?'

"मैं जाकर देखता हूँ।"

"नहीं तुम्हें जाने की जरूरत नहीं है। भूत-प्रेत भी तो हो सकता है। मैं तुम्हें अकेले नहीं जाने दूंगी।" कहते-कहते दोनों हाथों की गुम्फी में राजेन्द्र को भर लिया।

अन्त में दोनों ही सीढ़ियों से उतरने लगे। एक हाथ में लाठी और दूसरे में लालटेन लिए राजेन्द्र आगे-आगे था और कुर्ते का छोर थामे झीनी पीछे-पीछे जा रही थी।

जब आँगन में पहुँचे तो वह रोना-सिसकना अधिक स्पष्ट हो उठा। मारे आश्चर्य और भय के झीनी की पिण्डलियाँ काँप रही थीं।

थोड़ी देर दोनों दूर खड़े चुपचाप उस काली छाया को देखते रहे। तभी झीनी ने भय से काँपती अँगुलियों से राजेन्द्र का कुर्ता खींचा और बढ़कर कानों में फुसफुसाई—

"वही हत्यारा लग रहा है !"

"कौन ?"

"बापू !"

सुनकर राजेन्द्र आगे बढ़ गया। लालटेन के प्रकाश में दोनों ने उसे पहचान लिया। सचमुच वही बापू पड़ा-पड़ा सिसक रहा था।

उस बापू के सम्बन्ध में जो कुछ रामी के मुंह से सुना था और फिर जिस तरह झीनी को गफूर के हाथों में फंसा दिया था सो सब याद आते ही राजेन्द्र एकाएक हिंसक हो उठा।

राजेन्द्र ने उस कृषकाय बूढ़े को कंधों से पकड़ कर उठा लिया। चाहा कि जोर से धरती पर पटक दे। इतनी जोर से कि गिरते ही प्राण निकल जाएँ और पाप से लबालब घड़ा फूट जाये पर न जाने क्या सोचकर उसने धीरे से उसे वहीं छोड़ दिया।

वह बूढ़ा धरती पर गिर कर हिचकता बोला—"डाक्टर बाबू ! धरती पर पटक कर मार क्यों नहीं डाला ? मैं अब मरना ही तो चाहता हूँ। लेकिन मरने से पहले यह तो सुन लो कि मैंने अपनी रामी बेटी को कैसे-कैसे दुःख दिये थे।

पाप सुनाने से हलका हो जाता है, मैं तुम्हारे पैरों पड़ता हूँ डाक्टर बाबू ! सुनलो !!"

× × ×

राजेन्द्र अपने कमरे में भीनी के साथ बैठा है। सवेरा होने का है। सामने ही वह बूढ़ा बैठा-बैठा अपनी पाप कहानी सुनाये जा रहा है कि रामी को आगरे के पास किसी स्टेशन पर कैसे भ्रष्ट कराया—कहाँ जाकर होटल में अपने साथ रक्खा—फिर किस नरक में फेंक कर जेब में कितने रुपयों के नोट भर कर चला आया फिर एक दिन रामी के दुःख दर्दों की बात ध्यान में आई। उसकी आत्मा तिलमिलाने लगी। देवता के नीचे से भीनी के रुपये चुराकर रामी का उद्धार करने भागा-भागा आगरे गया।

रामी वहाँ मिली नहीं। एक से दूसरे चकले में बिकती-बिकाती वह दिल्ली में कुतुबरोड के काठ बाजार में जा पहुँची थी। वहीं से साढ़ेतीन सौ रुपये दे-दिला कर रामी को अपने साथ लिये पिछली रात गंगासागर बस्ती में लौटा था। वह रातभर शराब में धुत्त कलाल के शराब खाने में पड़ा रहा और बेटी ने गले में फाँसी लगा ली।

कहते-कहते वह बूढ़ा वहीं धरती पर औंधा पड़ा हिचकने लगा। फिर बोला—

"डाक्टर बाबू ! लगता है बाप का बदला उसके बच्चों से आज तक लेता आया हूँ सो अच्छा नहीं किया। उनके साथ कैसे-कैसे पाप किये हैं मैंने। पाप कर-कर के मेरे प्राण काँप रहे हैं।"

सुनकर राजेन्द्र आश्चर्य से मुँह फाड़े बोला—"किसके बाप का बदला ले रहे थे ? कौन था वह बाप ?"

गिड़गिड़ाता-सा बोला—

"इतना सुना है तो यह भी सुन लो कि बदले की कैसी आग में आज तक जलता आ रहा हूँ।" कहते-कहते वह उठकर सीधा बैठ गया।

आँसू पोंछ कर बोला—

"रामी और झीनी के पिता एक तरह से मेरे भाई ही थे। हमारी मां एक नहीं थीं पर हम दोनों के पिता सुमेरपुर रियासत के स्वर्गवासी महाराजा थे।

रामी के बाप का जन्म उनकी व्याहता महारानी से हुआ था और मैं महलों में रहने वाली एक रखैल की कोख से जन्मा था।

बारह तेरह वर्ष की उम्र तक मैं भी इन्हीं महाराजा—रामी के बाप के साथ डेली कालेज इन्दौर में पढ़ता रहा। उन दिनों मैं अपने को रियासत का राजकुमार ही मानता था पर मां के मरते ही मुझे महलों से निकाल दिया गया फिर जाने कहाँ-कहाँ भटकता फिरा।

इसी बीच कैसे-कैसे बुरे भले आदमियों से कैसी-कैसी बातें सीखकर जब दस वर्ष के बाद रियासत में लौटा तो मन करता था राजवंश के एक-एक आदमी की जान ले लूं। इन महाराजा की गर्दन मरोड़ डालने के लिए तो दिन रात मेरी मुट्ठी बंधती खुलती रहती थीं।

महाराजा ने दया करके शराब की ठेकेदारी मुझे दिला दी। थोड़े दिनों बाद मेरी भांति राजमहलों में जन्म लेने वाली एक दास-पुत्री से मेरा विवाह हो गया।" कह कर वह चुप हो गया। भावातिरेक में उसका गला बार-बार कांप जाता था। फिर बोला।

"डाक्टर बाबू! अपनी उस स्त्री को मैं कितना चाहता था, कैसे बताऊँ? एक दिन जब वह भी एक लड़की को जन्म देकर इस दुनियाँ से सदा-सदा के लिए चली गई तो मैं पागल हो उठा।

अपनी उस लड़की को पाला पोसा। उसका मुंह ठीक अपनी मां जैसा था। तब वह सोलह वर्ष की हो गई थी। डाक्टर बाबू! जब भी मैं उसके विवाह की बात छेड़ता तो मेरी बिटिया रूठती-सी बोलती—

"बापू ! मैं तुम्हें छोड़कर कहीं नहीं जाऊँगी। अगर कहीं भेजा तो प्राण दे दूंगी।" कहते-कहते वह बूढ़ा फिर सुबकने लगा फिर भर्राये कण्ठ से बोला—

"डाक्टर बाबू ! एक दिन शराब की वसूली करने पड़ोस के गाँवों में चला गया। अकेली बेटी को घर में छोड़ गया था। जब लौटा तो सुना, बेटी ने महलों की खिड़की से कूदकर प्राण दे दिये हैं। महाराजा—एक तरह से उसके सगे चाचा—उसका रूप खरीदना चाहते थे। बिटिया ने रूप का मोल अपने प्राणों से चुकाया था।

गाँव पहुँचने से पहले ही महाराजा ने बेटी के शव को जला दिया था। मरघट पर जब पहुँचा तो चिता खूब जल रही थी जी चाहा कि उसमें कूदकर अपनी बिटिया से जा मिलूं तभी मेरे अन्दर से किसी ने पुकार कर कहा—नहीं, पहले महाराज के प्राण ! तब—

और बाद में तय किया—जो व्यवहार महाराजा ने मेरी बेटी के साथ किया है वही एक दिन में उनकी बेटियों के साथ करूंगा—तब होगी मेरी छाती ठंडी ?

उनकी ब्याहता महारानी से कोई सन्तान नहीं थी। तब ध्यान आया कि ये रामी झीनी भी तो उन्हीं की बेटियां हैं। फिर जैसे तैसे जाल रचकर रामी की अम्मा को महलों से निकलवाया। और चोट खाये साँप की तरह बदला लेने के लिए मैं इन लड़कियों के पीछे लग गया।

जब एक दिन ध्यान आया—असली वैरी को छोड़कर उसकी केंचुली पर ही सारी जिन्दगी अपना फन पटकता रहा हूं। शायद इसलिए कि असली वैरी से बदला लेने की ताकत मुझ में नहीं थी, बस उस दिन लगा कि ये रामी और झीनी तो मेरी अपनी ही बेटियां हैं और डाक्टर बाबू ! देवता के मंदिर से अपनी बेटी का रुपया चुरा कर भागा-भागा आगरे गया फिर दिल्ली और बेटी को कल रात वापस लेकर आगया।

डाक्टर बाबू ! अब तो एक पल को भी चैन नहीं आता। रामी

कहता वह उठा। आँसुओं से धुंधली हुई आँखों से राजेन्द्र और झीनी को देखता-देखता वहाँ से चला गया। जाते समय मुंह से एक शब्द भी न निकाला किन्तु उस रुलाई के भीतर पश्चाताप की धधकती आग और क्षमा की जो याचना छिपी थी सो समझते उन दोनों को देर नहीं लगी।

जाते समय उसके चेहरे पर जो छा गया था उससे राजेन्द्र और झीनी के हृदयों का एक कोना करुणा-पूरित अव्यक्त उच्छ्वासों से भर उठा और दूसरा कोना उसके पूर्व इतिहास को याद करके घृणा और क्षोभ के मर्मान्तिक आवेगों से क्षुब्ध हो उठा।

उस दिन के बाद वह बूढ़ा कभी गंगासागर बस्ती में दिखाई नहीं दिया, जैसे किसी दुःखान्त नाटक का अन्तिम पटाक्षेप हो गया है।

उधर दूसरे ही दिन गाँव से राजेन्द्र को उसकी भाभी की चिट्ठी मिली। लिखा था—तुम्हारे भइया की तबियत बहुत खराब है, गाँव में पहुँचना जरूरी है। चिट्ठी पाकर राजेन्द्र गाँव चला गया।

× × ×

राजेन्द्र को गाँव गये आज कितने दिन हो गये पर पहुँच की चिट्ठी भेजकर न जाने क्यों चुप्पी लगा गया है! पत्र का उत्तर तक नहीं देता।

झीनी पत्र की राह देखती ही सुबह उठती है और फिर निराश होकर चुपचाप खटोले पर लेट जाती है। कितने दिनों से बस यही करती आ रही है।

Roop Shali
1st T.D.C
1.1.1968

३०

राजेन्द्र के बड़े भइया जब बनारस में संस्कृत के शिक्षक होकर पहले दिन कक्षा में पहुँचे तो बीसवीं सदी के स्वतन्त्रता प्रिय शिष्यों ने जिस प्रकार भक्तिभाव से उनका आदर-सत्कार किया उसे देखकर उन्होंने मन ही मन समझ लिया कि अपने स्थान पर अधिक दिन ठहर पाना उनके बलबूते की बात नहीं है।

पहले ही दिन एक विद्यार्थी उनके पास पहुँचा और एक श्लोक का अर्थ समझाने के लिये उनसे विनती की। जब भइया समझाने लगे तो अपने कान पर हाथ रखकर जोर से बोला—"कम सुनता हूँ।"

सुनकर उन महात्मा गुरु का हृदय द्रवित हो उठा। वे ऊँचे से ऊँचे स्वर में प्राण-पण से उस विद्यार्थी की मदद करने लगे। तभी अचानक उनके कानों ने सुना जैसे कहीं हँसी का बाँध अचानक फूट पड़ा है। सारा कमरा अट्टहास से गूंज उठा। असल में वह विद्यार्थी झूठ-मूठ ही बहरा बनकर भइया का मजाक उड़ा रहा था।

वे जब घर पहुँचे तो देखा—जिन पुस्तकों को लेकर कक्षा में गये थे उन्हीं के पृष्ठों में जहां-तहां फिल्म अभिनेत्रियों के अर्धनग्न चित्र किन्हीं शिष्यों ने किसी बड़े आनन्द या कौतुक की कामना से सम्भाल कर रख दिये हैं।

धीरे-धीरे भइया विद्यार्थियों के लिए निर्मम मनोविनोद की सामग्री बन गये। कुछ दिनों तक जैसे-जैसे वे अपने शिष्यों द्वारा दिखाई गई उस गुरु भक्ति को सहते रहे पर अन्त में हार कर गांव लौट आये!

उन अति आधुनिक विद्यार्थियों ने अपने साधु-हृदय आदर्शवादी

गुरु के हृदय को जैसी-जैसी चोटें पहुंचाई थीं सो उनका दर्द गांव पहुँचने पर भी कम न होकर बढ़ता ही गया।

दिन-रात खाते-पीते, उठते-बैठते सदा जो बात मन में चिकोटती रहती थी सो उसी को लेकर पूजा के आसन पर बैठते ही भगवान् के श्री चरणों में पुकार-पुकार कर निवेदन कर उठते थे—

"भगवान्! ऋषियों की इस पुण्य भूमि पर अब क्या होने जा रहा है? कब कहाँ से यह कैसी हवा चल पड़ी है कि जिसमें धर्म, कर्म, मर्यादा, स्नेह-श्रद्धा सब कुछ उड़ गया?

नहीं, प्रभो! अब मुझे इस धरती से उठा लो। यह सब मुझ से नहीं देखा जायेगा।"

भइया का सदा से यह स्वभाव रहा है कि जब वे किसी मानसिक दुःख से पीड़ित हो उठते हैं तो चुपचाप ही सब सहना चाहते हैं।

तब किसी से अपनी पीड़ा के बारे में एक शब्द भी नहीं कहते। स्यात् इसी लिए उन्होंने राजेन्द्र को बनारस से घर लौट आने के बारे में कुछ नहीं लिखा।

राजेन्द्र पिछले कुछ महीनों से प्रतिमास पचास रुपये घर भेजता रहा है इसीलिए घर का काम अच्छी तरह चल रहा था।

जब भइया की तबियत बहुत गिर गई तो एक दिन भाभी ने पत्र लिखा और राजेन्द्र गांव में आगया।

बड़े भइया की यह बीमारी न जाने कैसी है, कितना इलाज कराया पर घटती ही नहीं। धीरे-धीरे लगभग तीन महीने बीत गये।

उधर झीनी को कितने पत्र लिखे पर न जाने क्यों एक का भी उत्तर नहीं मिला। समझ नहीं पाता कि उसे क्या हो गया है?

कभी-कभी न जाने कैसी दुश्चिन्तायें आ-आकर उसे घेर लेती हैं। मन करता है सब कुछ छोड़-छाड़कर झीनी के पास जा पहुँचे।

फिर चारपाई पर पड़े कृपकाय जर्जर भइया के पीले मुंह की ओर देखता है और मन मारकर चुप रह जाता है।

प्राय: भइया के पास बैठा रहता है। जब कभी वे बात करते हैं तो राजेन्द्र बीच ही में कहा उड़ जाता है। तब भइया के होंठों पर न जाने कैसी करुण रेखायें खिच-खिचकर मिटने लगती हैं। वे राजेन्द्र के मन में बसे दुःख को अच्छी तरह समझते हैं।

कभी-कभी रुँधे कंठ से कहते हैं—

"राजू ! अब तू लौट जा। इस बीमारी का क्या ठीक ! न जाने कब तक चले। फिर घर का काम भी तो चलाना है। बिना पैसे के कैसे चलेगा ?"

पर चला कैसे जाय ? भइया से उठा बैठा नहीं जाता। सब कुछ राजेन्द्र को ही सँभालना पड़ता है। कभी घंटे दो घंटे को बाहर चौपाल पर जाकर सो जाये तो भइया को दो घूंट पानी तक नहीं मिलता। छोटा भतीजा मधुसूदन पढ़ने चला जाता है और गृहणी काम धंधे में उलझ जाती हैं।

उस दिन भइया की तबियत कुछ ठीक थी। राजेन्द्र निश्चिन्त हो चौपाल पर जाकर सो गया था।

पहर रात बीती होगी तभी भइया ने पुकारा—

"सुनो तो ! कहाँ हो ? सिल्लो ?" राजेन्द्र की भाभी का नाम शीला है ! बड़े भइया सदा उन्हें 'सिल्लो' कह कर ही पुकारते हैं।

गृहणी पास ही धरती पर चटाई बिछाये लेटी थीं। झपकी लग गई थी। स्वामी की आवाज सुनकर आँख खुल गई। बोली—

"क्या है ? पानी चाहिये।"

"नहीं, एक बात कहनी थी।"

"क्या ?"

"कुछ समझ में नहीं आता। राजू का यहाँ मन नहीं लगता। कहता हूँ लौट जाये पर वापस भी नहीं जाता ! लगता है बहू से लड़-झगड़ कर आया है। बहू ने आने से रोका होगा या साथ आने का हठ किया होगा। और यह दुष्ट-संकोच वश उसे यहाँ लाया नहीं होगा।

चिठ्ठी बड़ी थी और लिफाफे का कागज कमजोर, किनारे की ओर से फट गया था। गृहणी ने उँगली से थोड़ी और जगह बनाकर चिठ्ठी को एक जगह से पढ़ा—उतना-सा पढ़ते ही समझ गई कि लिखने वाली कोई लड़की है जो राजेन्द्र से ब्याह करना चाहती है। और स्वामी से स्वीकृति की आशा लगाये कहीं दूर देश में बैठी है।

पढ़ते ही सोच में पड़ गईं। सोचने लगी—स्वामी तो कहते थे कि राजू ने अपना व्याह कर लिया है, फिर यह लड़की कौन है ? अच्छा ! तो एक को छोड़कर अब दूसरी को व्याहने चला है !

सोचकर उनके तन बदन में आग लग गई। एक हाथ में लिफाफा और दूसरे से मधुसूदन की बाँह पकड़े मकान के पिछवाड़े ले गईं। क्रोध में कांपती आँखें फाड़ कर बोली—

"सुनता है कि नहीं ? तेरे चाचा डाक में डालने को जो भी चिट्ठी दें और जो बाहर से आये, सो सब चिट्ठियाँ लाकर मुझे दे दिया कर। खबरदार, जो इस बारे में अपने चाचा से कुछ भी कहा।"

मधुसूदन अपनी माँ से इतना डरता है कि अगर वे जलती आग में कूद पड़ने को कहें तो 'ना' कहने से अधिक सुविधा उसे आग में कूदकर अपना प्राणान्त कर लेने में ही दिखाई देगी।

इन विगत तीन महीनों में चाचा द्वारा भेजे गये कितने पत्र और उनके नाम से आये कितने मोटे लिफाफे मधुसूदन चुपचाप जाकर अपनी माँ को दे आया है, सो उसका कुछ हिसाब नहीं है।

मधुसूदन और उसके चाचा एक दूसरे को जितना प्यार करते हैं वैसा इस धरती पर बहुत कम देखा सुना गया है।

जब राजेन्द्र गांव आया, तब से मधुसूदन उसी के साथ सोता था। सोने से पहले कैसी-कैसी बातें पूछता था—

"चाचा ! ये तारे दिन को कहां चले जाते हैं ? सूरज रात में जाकर कहीं सो जाता है ? सूरज भी अपने चाचा के साथ सोता है ? चंदा को मामा क्यों कहते हैं ? चंदा तारे धरती पर गिर क्यों नहीं

पढ़ते ? इनको बांधे आकाश में कौन बैठा है ? इनकी अम्मा भी इनको पीटती है ?"

कितने सालों से ऐसी ही बातें उसके मन में उठती थीं—पर पूछे किससे ? उसके बापू के पास इन सब बातों का एक ही समाधान था—"बेटा ! यह सब उस प्रभु की लीला है। इसका पार किसने पाया है आज तक ?"

मां से पूछने की उसे कभी हिम्मत ही नहीं हुई। स्कूल में ऐसे प्रश्न पूछने पर उसे 'उल्लू', 'सिर फिरा' जैसे नामों से पुरस्कृत किया जाता था।

जब पहली बार उसके राजेन्द्र चाचा ने उसके सारे प्रश्नों को हँसते-हँसते सुलझा दिया तो मधुसूदन अपनी नन्हीं बाहें उनके गले में डालकर चिपक गया था। फिर धीरे-से बोला था—

"चाचा ! तुम कितने अच्छे हो।"

आज अपने उन्हीं अच्छे चाचा की चिट्ठियां उन्हें न देकर मां को दे आता है। चाचा रोज पूछते हैं—

"मधु ! मेरी कोई चिट्ठी तो नहीं आई ?" सुनकर उसकी छाती में शूल-सा छिद जाता है। मन करता है जोर-से रो पड़े और अपने उन्हीं अच्छे चाचा को सब कुछ साफ-साफ बता दे, पर तभी क्रोध में कांपती, आंखें फाड़े मां का चेहरा उसे दिख जाता है। मारे भय के कांप जाता है। धीरे-से कहता है—"नहीं चाचा, चिट्ठी नहीं आई।" और फिर किसी काम में व्यस्त होने की व्यग्रता-सी दिखाता वहां से भाग जाता है।

उसे सदा डर रहता है कि सच बात कहीं उसके मुंह से न निकल जाए, इसी लिये अब अपने चाचा के समीप आने में सदा कतराता-सा रहता है। कितने दिनों से उसने रात के समय चाचा के साथ सोना भी छोड़ दिया है। इतने दिनों में कितने प्रश्न आ-आकर उसके मन में

इकट्ठे हो गये हैं पर क्या करे ? उन्हें सुलझाने कैसे जाए अपने उन अच्छे चाचा के समीप ?

× × ×

उस रात गृहणी के मुंह से चिट्ठी की बात सुनकर बहुत देर तक राजेन्द्र के बड़े भइया उसकी ओर पीठ किये चुपचाप लेटे रहे, फिर बोले–

"राजू कहाँ सो रहा है ?"

"बाहर चौपाल पर।"

थोड़ी देर दोनों में से कोई भी न बोला फिर दबी उसांस छोड़ते बोले—"अच्छा ! सोने दो। सबेरे देखा जाएगा।"

तभी बाहर से राजेन्द्र के खाँसने की आवाज़ आई। कई दिन से उसे हल्की खाँसी हो गई है। कमरे में अंधेरा था। वह द्वार पर आकर बोला—

"भइया! तबियत कैसी है ?"

"................ ।"

तभी भाभी एक झपाटे में कमरे से निकलकर चली गईं। जिस तरह वे बाहर गईं, उसी से राजेन्द्र ने समझ लिया कि सदा की भाँति आज आपस में कुछ कहा सुनी हो गई है।

राजेन्द्र धीरे-से पांयती ओर बैठ गया। फिर बोला—"भइया, दवा पी ली ?"

तभी भइया ने करवट बदली और चारपाई पर पड़े कागज़-पत्र खड़खड़ा गये। वह बोला—"भइया! क्या बात है ? ये चारपाई पर कागज़ कैसे पड़े हैं ?"

भइया भर्राये स्वर में बोले—

"तेरी चिट्ठियाँ हैं। उठा ले जा।" कहकर उन्होंने फिर करवट बदल ली।

राजेन्द्र सोचने लगा—चिट्ठियाँ झीनी की ही होंगी।

यह ध्यान आते ही उसे लगा जैसे अखिल विश्व का साम्राज्य

उसके पैरों पर अचानक आकर लोटने लगा है।

फिर ध्यान आया—इतनी सारी चिट्ठियां आज अचानक कैसे आगईं?

बोला—"भइया! इतनी सारी चिट्ठियां ?"

"राजू! मुझे नींद आ रही है।"

सोचने लगा—भइया का यह स्वर कैसा हो रहा है? क्या हुआ है इन्हें ?

लेकिन आज यह सब सोचने समझने का समय उसके पास नहीं है।

Mr. Mohan Lal Garb

Rajan

Rayan

Srinagar

समाधान

"सच गुसाईं ! दिन रात भगवान् का नाम जपते-जपते भी एक पल के लिए मैं तुम्हें न भूल पाई।

आज तो लगता है जैसे भगवान् के निमित्त से मैं तुम्हारा नाम ही जपती आ रही हूँ।"

Comments: The book is not interesting for love enjoyers,
Ramesh Razdan

३१

चौपाल में आकर जब लालटेन के प्रकाश में उसने चिट्ठियों का पुलिन्दा खोला तो मारे आश्चर्य के कुछ देरे मुँह बाये उन पत्रों को लौट-पलट कर देखता रहा।

सोचने लगा—यह हुआ क्या ? जो पत्र उसने झीनी के लिए लिखे थे वे भी बिना डाकखाने की मुहर के यहाँ पड़े हैं। और कुछ झीनी की महीनों पुरानी चिट्ठियाँ हैं। झीनी की चिट्ठियाँ आती रहीं पर उसे क्यों नहीं दी गईं ?

उसे सबसे पहले ध्यान आया कि भइया ने ही किसी हित-कामना से उसकी सारी डाक रोक ली है।

महाभारत में एक कथा आती है कि किन्हीं अशुभ क्षणों में किसी बात को लेकर भाई के परम-भक्त अर्जुन ने अपने अग्रज महात्मा युधिष्ठिर की गर्दन काट डालने के लिए तलवार उठाई थी।

अचानक वैसे ही क्षण राजेन्द्र के जीवन में भी आ उपस्थित हुए किन्तु तभी झीनी के वे पत्र अगम्य पर्वत बन कर सामने आ खड़े हुए।

उसे पता ही न लगा कि अपने उतने बड़े क्रोध के उद्वेग को दबाकर लिफाफों पर पड़ी डाकखाने की मुहर के अनुसार तरीखें मिला-मिला कर वह कब क्रम से रखने लगा है।

फिर झीनी का पहला पत्र लिफाफे में से खींचकर वह पढ़ने बैठा—

प्राण !

नहीं जानती पत्र लिखने से पहले तुम्हें क्या कह कर पुकारूं ? मां, बाप, नाना, नानी न जाने किस-किस को पत्र लिखना स्कूल में सिखाया गया था पर अपने 'उनको' कैसे लिखा जाता है सो तो किसी मास्टरनी ने नहीं सिखाया।

जब तुम्हें पत्र लिखने बैठी तब लगा कि जिसके बिना इन पांच दिनों में ही निष्प्राण हो उठी हूं सो तुम क्या मेरे 'प्राण' ही नहीं हो ?

सच, पढ़कर हंसना नहीं कि तुम्हारी झीनी को पत्र लिखना भी नहीं आता !

तुम्हारा पत्र अभी-अभी मिला है। तुम्हें गये आज पांचवां दिन है। इन पांचेक दिनों में ही लगता है जैसे सारी सृष्टि बदल गई है। सब कुछ बदल गया है।

सोचती हूं—यदि कविता करना जानती तो मैं अपनी इस अनुभूति को गीतों में बांध लेती। यदि कुछ लिख पाती तो जी हल्का हो जाता, पर मैं तो कुछ भी नहीं हूं। न गायिका—न लेखिका, क्या करूं ?

जानती हूं कि तुम सात आठ दिन के बाद ही लौट आओगे पर इस मन को क्या करूं ? किसी भी तरह चैन नहीं आता।

सच तुम्हारी गोद में सिर रख कर जब तुम्हें देखती थी तो लगता था जैसे मैं ही अखिल सृष्टि हूं। सोचती हूं—कैसे अनजाने ही इतना बड़ा अभिमान मेरे मन में आ समाया था और आज जब तुम पास नहीं हो तो लगता है जैसे मैं कुछ नहीं हूं—केवल माटी का क्षुद्र कण !

हाथ में कुछ भी काम नहीं है सो दिन में खूब सो लेती हूं पर रात काटे नहीं कटती। तुम्हारे जाने के बाद यहां बस्ती में एक चलता-फिरता सिनेमा आ गया है। मकान के पिछवाड़े ही उसके तम्बू गड़ गये हैं। दो तीन दिन से उसमें 'प्रेम बावरी मीरा' खेल चल रहा है।

सिनेमा के गीत यहाँ से साफ सुनाई पड़ते हैं। इस खेल में—'जोगिया से प्रीति किये दुख होय।' भी एक गीत है।

जब उस गीत को सुनती हूँ तो जाड़े की वह रात याद हो ग्राती है जब तुमने इस गीत की ग्रादि स्रोत मीरा की कहानी सुनाई थी।

सोचती हूँ—जो ऐसे-ऐसे गीत रच कर इस दुनियाँ से चली गईं है सो जब वही दर्द से कराह कर ग्रपने श्री मुख से पुकार उठती होंगी—'जोगिया से प्रीति किये दुख होय' तब—

तब मुझे तुम्हारी याद ग्रा जाती है। जरा-सी बात पर महीनों रूठे रहे। कभी ग्राँख उठा कर मेरी ग्रोर देखा तक नहीं! सो तुम क्या किसी 'जुगिया' 'वैरागी' से कम हो?

कितनी बार इस गीत के ग्रर्थ परीक्षाग्रों में लिखें हैं ग्रौर लगभग शत प्रतिशत ग्रंक पाये हैं, पर ग्राज लगता है कि वे सारे ग्रर्थ गलत थे। सच, इस गीत का ठीक-ठीक ग्रर्थ तो ग्राज समझ पा रही हूँ।

प्राण! क्या सचमुच तुम इसी तरह जीवन भर मुझे दुःख ही देते रहोगे? जब किवाड़ों की ग्रोट से तुम्हें तुम्हारे ही कमरे में पहली बार देखा था तो देखती की देखती ही रह गई थी।

उस दिन न जाने क्यों पहली बार मुझे लगा था कि मैं बड़ी हो गई हूँ। फिर किसी भी तरह मारे लाज संकोच के तुम्हारे सामने नहीं ग्रा पाई। तब दिदिया झुंझलाती ग्राईं ग्रौर मुझे बाहर से समेट कर ग्रन्दर लेगयी—

तुम्हारे पैरों की धूलि माथे पर लगाते ही लगा जैसे सारे बदन में सनसनी सी मच गई है ग्रौर फिर महीनों लुकती-छिपती तुम से दूर भागती रही। ग्राज सोचती हूँ—क्या उन्हीं प्रथम क्षणों में ही मैंने तुम्हें ग्रपने मन में नहीं बिठा लिया था?

हाय! ग्रौर फिर एक दिन तुमनें मुझे छू लिया। छूने की उस ग्रनुभूति से मैं सिहर उठी थी। दिन रात तुम्हारे उसी संस्पर्श की

प्रतीक्षा करती रहती थी। एक बार फिर उन्हीं क्षणों को वापस बुला लेने के लिए सदा बेचैन रहती थी।

धीरे-धीरे ऐसा लगने लगा जैसे मेरे चारों ग्रोर कुछ छाता जा रहा है। जो कभी ग्रच्छा लगता है ग्रौर कभी बुरा भी कम नहीं लगता।

तब सोचती थी—जब यह नहीं था तो हमारे बीच कितना क्या-कुछ था। कैसी-कैसी रसभरी बातें तुम सुनाते थे पर उस छूने के बाद जैसे कहने-सुनने को कुछ भी शेष नहीं रहा है। जैसे सब कुछ चुक गया है।

फिर उस छूने से मुझे घृणा होने लगी ग्रौर तुमने समझा कि मैं तुम से दूर चली गई हूँ।

उन दिनों जब मन में कोई सरस कामना छिपाये तुम भाव-विभोर हो मुझे देखते थे तो लगता था जैसे—

मैं पागल हो उठी हूँ।

डरती हूँ कहीं पत्र किसी दूसरे के हाथों में न जा पड़े। पर तुमने लिखा है कि पत्र सुरक्षित तुम्हें मिल जाएगा। ऐसा प्रबन्ध कर लिया है। इसी लिए यह सब लिख गई हूँ।

हाँ, ग्रपने विवाह की बात भइया से छेड़ी थी या नहीं ? ग्रगर मुझ ग्रानजात की लड़की के साथ विवाह की स्वीकृति उन्होंने न दी तो ?

सच, यह ध्यान ग्राते ही मेरे प्राण काँप उठते हैं। नहीं····ग्रभी भइया से कुछ भी न पूछना। बीमारी में मन चिड़चिड़ा हो जाता है। जब ठीक हो जाएँ तब कभी ग्रनुकूल ग्रवसर देखकर पूछ लेना।

ग्रच्छा, ग्रब रुकती हूँ। पत्र का उत्तर जल्दी देना। भइया की बीमारी के बारे में तुमने विस्तार से नहीं लिखा। लिखना, ग्रब क्या हाल है ? क्या बीमारी है ?

सच, प्राण ! ग्रब तक नहीं जानती थी कि ग्रपने किसी········का पत्र उसके दूर जा बैठने पर कितना बड़ा सहारा होता है। यह भी मेरे लिए नई ही ग्रनुभूति है।

जब से तुम्हारी चिट्ठी ग्राई है तब से न जाने कितनी बार उसे पढ़

गई हूँ। लगता है जैसे हर बार उसमें कुछ नई बात पढ़ने को मिल जाती है। पर तुमने इतना छोटा पत्र क्यों लिखा ? अगली बार बड़ा लिखकर भेजना।

अच्छा, अब बस ! भाभी को प्रणाम और अपने नन्हे मधु को ढेर-सा प्यार कह दीजिये। तुमने मधु के बारे में जो कुछ लिखा है सो पढ़कर मन करता है—एक बार अपनी आँखों से उसे देख पाती।

तो बस—

पत्र की प्रतीक्षा में

तुम्हारी ही—

झीनो

गंगासागर

प्राण,

पत्र लिखे आज दस दिन हो गये। उत्तर क्यों नहीं दिया ? क्या भइया की तबियत अधिक खराब हो गई है ? लिखते क्यों नहीं ? बड़ा पत्र न सही दो पंक्तियाँ लिखकर भेजने में कितनी देर लगती है।

मेरा पत्र पढ़ते ही लिखने बैठ जाना। तुम सहज ही समझ सकते हो कि इतने दिनों तक पत्र न पाकर कैसी-कैसी बातें मेरे मन में उठ सकती हैं।

सच, किसी पर निर्भर हो जाना भी कितनी बड़ी कमजोरी है। प्रति पल, प्रति क्षण अपने खोखलेपन का खटकते रहना ही कितना बड़ा दुर्भाग्य है किसी का।

क्या तुम मुझ से रूठ गये हो ? जाने से पहले कुछ दिनों तक मेरी जो विशेष मानसिक स्थिति रही थी सो उससे शायद तुम्हें चोट लगी है। नहीं—तुम कुछ अन्यथा न सोच बैठना।

प्राण! उन दिनों, मेरा मतलब है जाने से कुछ दिन पूर्व, जब भी

तुम मुझे अपने में समाहित कर लेने के लिए अधीर हो उठते थे तो मुझे लगता था कि वे क्षण आखिर कितनी देर टिक पायेंगे ?

तब उन क्षणों में ही भूत और भविष्य का अभाव आकर विडम्बना—मिलन की विडम्बना-सा प्रतीत हो उठता था और मिलन की वह मिठास कड़वी हो उठती थी। मुझे लगता था कि तुम्हें वैसा सुख देने के लिए मैं अयोग्य हूँ—सर्वथा अयोग्य !

उन दिनों मुझे लगता था जैसे मैं हूँ—

तुम्हारे उन मधुर क्षणों में कड़वाहट घोलने वाली, तुम्हारे सुख सौभाग्य की एक काली रेख !

तभी लगता था कि धीरे-धीरे मैं तुम्हें कितना प्यार करने लगी हूँ। एक क्षण भी अलग नहीं रहना चाहती किन्तु जो तुम चाहते थे सो बहुत प्रयत्न करने पर भी तुम्हें न दे सकी। सच बताना, क्या इसीलिए रूठ गये हो ?

देखो, तुम पुरुष हो इसलिए शायद मेरी बात समझने में कठिनाई हो पर इस देश की लड़कियों के लिए वे क्षण कितने मधुर, साथ ही कितने कठिन होते हैं सो प्रत्येक भुक्तभोगी नारी भली भाँति समझ सकती है।

मैं बाहर आँगन में बैठी-बैठी ही तुम्हें यह पत्र लिख रही हूँ। न जाने आज कैसी मनहूस साँझ है। सब ओर सूना-सूना-सा ही दिख रहा है। आकाश में अपने-अपने नीड़ों की ओर लौटते पक्षियों की पाँतें यहाँ बैठे-बैठे अनायास ही दिख जाती हैं।

सोचती हूँ—कितने दिन बीत गये। मेरा पंछी अब तक क्यों नहीं लौटा ? तब मन में न जाने कैसी-कैसी दुश्चिन्तायें उठने लगती हैं और भय के मारे काँप जाती हूँ। तब किसी उन्मत्त पक्षी के उन्मुक्त पंखों की फड़फड़ाहट को अपने वायु-स्पर्श से आबद्ध कर लेने के लिए मन छटपटा उठता है।

सच, जब तुम्हें नहीं देखा था तब भी सदा साँझ को लौटते इन

पक्षियों को देख कर मन उदास हो उठता था। तब कुछ भी नियोजित नहीं था पर तो भी उन पक्षियों को देखकर एक दबी सांस छूट जाती थी—जैसे किसी की दबी व्यथा का निर्मम प्रस्फुटन !

हाय प्राण ! आज तो लगता है जैसे आकाश में अपने नीड़ की ओर लौटता एक-एक पक्षी अपनी नुकीली चोंच से मेरे कलेजे को चीर-चीर कर एक लकीर-सी खींचता चला जा रहा है।

लगता है जैसे विश्वव्यापी सूनापन सिमिट-सिमिट कर मेरे अन्दर ही उतरता चला आरहा है।

तभी याद आती है तुम्हारी एकान्त स्नेहभरी गोद ! जिसमें सिर रखकर अपना बड़े से बड़ा दुःख भी मैं भूल जाती थी। तब दुराव—छिपाव—झिझक सब कुछ मिट जाता था। कितनी हल्की हो उठती थी, और आज लगता है जैसे बोझ के मारे पूरी सांस तक नहीं आ रही है।

जब तुम मेरे पास थे तब भी सांझ होती थी—चांदनी बिखरती थी। तब यह सब कितना सुहावना लगता था। आज भी इस चांदनी में आंगन का कन-कन दीपित हो उठा है पर जैसे सब कुछ फीका हो—सुनसान !

कभी पढ़ा था कि कहीं किसी डाल पर मिलन की आतुरता लिये क्रौंच पक्षियों का कोई जोड़ा बैठा था। उनमें से एक को किसी वधिक ने सहसा अपने तीर से बींध दिया। तब उस पंख फड़फड़ाते पक्षी के प्रति महर्षि वाल्मीकि के मन में ऐसी करुणा उमड़ी कि अचानक दर्द की वह अनुभूति कविता बनकर फूट पड़ी। पढ़कर मुझे आश्चर्य हुआ था कि बिना पूर्व अभ्यास के इस तरह कविता कैसे बन पायी होगी ?

पर आज लगता है जैसे कविता के जन्म का यही सच्चा इतिहास है। गीत, कविता में बचपन से ही मेरी रुचि रही है पर अब तो लगता है जैसे मन में उठती इन दर्द की लहरों को कविता में बांध लेना भी जीते रहने के लिए कितना बड़ा सहारा है !

इन पिछले दिनों में कैसी-कैसी तुकबन्दियां मैंने की हैं सो पढ़-पढ़

कर स्वयं अचरज में डूब जाती हूं। सच, जो लिखा नहीं जाता—जो कहा नहीं जाता, सो न जाने कैसे छन्द में आकर बंध जाता है। तुम्हें इसी प्रकार की अपनी एक अनुभूति लिख भेजने का लोभ आज मैं कैसे भी रोक नहीं पा रही हूं। सुनो—

मैं लिये हाथ में बैठी, आंसू से भीगा अंचल।
रे! आज ज्वार सा उठता, क्यों उर में रह-रह चंचल॥
जब संध्या की वेला में, उड़ती चिड़ियों की पांतें।
कर याद हाय! रो पड़ती, बीते युग की वे बातें॥
फिर मुझे सालने आती—
यह राका जगमग उज्ज्वल।
मैं लिये.................. ॥
सोते नीड़ों में पंछी, पंखों में चोंच दबाये।
आंसू के हार पिराती, मैं मन में पीर बसाये।
टूटी मेरी आशायें—
टूटा जीने का संबल।
मैं लिये.................. ॥

अभी इस कविता को पत्र में उतारते-उतारते मुझे लगा जैसे तुम्हारे लौटकर आने में भी अब अन्दर ही अन्दर मुझे संदेह-सा हो उठा है। नहीं तो "टूटी मेरी आशायें, टूटा जीने का संबल" कैसे लिख पाती?

प्राण! मैं बहुत दुःखी हूं। तुम्हें कैसे समझाऊं? पत्र पाते ही लिखने बैठ जाना। सच कहती हूं, अब यदि तुमने पत्र नहीं लिखा तो मैं पागल हो जाऊंगी।

हां, एक बड़ी बात तो लिखना ही भूल गई। कल डाक्टर बाबू के घर डाका पड़ गया। कहते हैं डाकुओं का दल उसी डोम का है जिसका खेत डाक्टर बाबू ने पटवारी से मिलकर छीन लिया था। पहले डाकुओं ने डाक्टर बाबू का घर लूटा, फिर उन्हें पेड़ से बांधा और मिट्टी का तेल छिड़ककर आग लगा दी। डाकू जाते-जाते उस

पटवारी को भी गोली मार गये। पटवारी अस्पताल में जाकर मर गया। तुम्हारी जगह जो आदमी काम करने आया था सो डर के मारे भाग गया है। तुम लौट आओ तो अपन दोनों जबलपुर चलकर रहेंगे। तुम किसी डाक्टर के यहाँ काम करना और मैं पढ़ूंगी। बोलो, ठीक रहेगा न। डाक्टर की मृत्यु के बाद उनकी डिस्पेंसरी चलेगी नहीं। क्या जबलपुर चलकर रहोगे मेरे साथ ?

मइया अब कैसे हैं ? लिखना।

पत्र की प्रतीक्षा में
तुम्हारी अपनी—
झीनी

This novel is very much Interesting and Tragic 1986

गंगासागर

प्राण!

आज तुम्हें गये ठीक एक महीना बीत गया है। तुम कहाँ हो ? क्या कर रहे हो ? कुछ भी तो नहीं जान पाती। लगता है तुम किसी संकट में पड़ गये हो। क्या हुआ है तुम्हें ? क्या कभी लौटोगे ही नहीं ?

तुम जब गये थे उन दिनों की अपनी विशेष मानसिक स्थिति की बात सोचती हूँ तो मन ही मन छटपटा उठती हूँ। क्यों 'ना' कहकर मैंने तुम्हारा निरादर किया था ?

सोचती हूँ जिस अतिथि के लिये जीवन भर तपस्या करती रही—प्राण बिछाये बैठी रही और जब वे क्षण आये तो न जाने कैसी माया में जा फँसी कि—

रस के सरोवर में डूबकर भी एक-एक बूंद के लिए तरसती रह गई।

कितने जन्मों के पुण्यों से मेरे रूठे प्रियतम मेरी सूनी कुटिया में लौट रहे थे। मैंने उन्हें दूर से छिपकर देखा और स्वागत के लिए धूप-दीप और न जाने क्या-क्या उपकरण जुटाने अपनी पड़ोसिन के

यहाँ दौड़ गई। जब हाथ में स्वागत के लिए मंगल-थाल सजाये हाँफती लौटी तो देखा—

कुटिया की देहरी पर से उनकी छाया का छोर खिसकता जा रहा है।

प्राण ! जब साँझ का धुंधला प्रकाश बुझ जाता है और आकाश में तारे निकल आते हैं, तब तुम्हें भुलाने के लिए तारों, नक्षत्रों में मन उलझाने की कोशिश करती हूँ पर तभी अन्दर ही अन्दर कोई सिसक उठता है—

आज भी प्रिय ! तुम न आये ?
और मैं बैठी अकेली, राह में पलकें बिछाये।
आज भी प्रिय............॥
सप्त ऋषियों ने गगन में, आज बन्दनवार बाँधे।
सोहता मंगल कलश-सा, आज चन्दा मौन साधे॥
जोहती हूँ राह तेरी
नयन में आँसू छिपाये।
आज भी...............॥
खिल उठी है रातरानी, गन्ध चरणों पर चढ़ाने।
बह चली है पवन चंचल, आज प्रिय का परस पाने॥
व्योम गंगा में किसी ने—
दीप तारों के बहाये !
आज भी............॥
प्राण-वीणा में व्यथा की, रागिनी मैं हूँ बजाती।
मैं वियोगिन युग-युगों की, मौन स्वागत-गीत गाती॥
हाथ में ले आरती मैं—
हाय ! बैठी हूँ सजाये।
आज भी............॥

प्राण ! तुम कब लौटोगे ? लौटते क्यों नहीं ? क्या अब जीवन में कभी वे क्षण लौटकर ही न आवेंगे जब तुम्हारे चरणों पर माथा टेक कर निश्चिन्त हो मैं कह सकूं कि—

बस, तुम मेरे हो !

—और तब अपने मानस के उस असीम शून्य को—उस क्षण को—पूर्णता से भर लूं। आज मेरा रोम-रोम उस पूर्णता के लिए पुकार उठा है। बोलो—क्या वे क्षण इस जीवन में कभी न आयेंगे ?

सोचती हूँ—सोचती हूँ—बस, दिन-रात पड़ी-पड़ी यही सोचती रहती हूं कि—

—पाकर भी तुम्हें क्यों खो दिया ?

अब तो लगता है कि इस घर के एकान्त सूनेपन में, यदि थोड़े दिन और खटोले पर पड़ी-पड़ी इसी तरह तुम्हारा ध्यान करती रही तो पागल हो जाऊंगी। सच, पागल होने से मुझे बहुत डर लगता है।

तुम्हारे जाने के बाद कुछ दिन तक तो रो-धोकर जी हल्का कर लेती थी पर अब तो किसी भी तरह आंखें गीली तक नहीं होतीं। सोचती हूं एक बूंद आंसू आंख से ढुलक पड़े तो जी हल्का हो जावे पर नहीं—

बस, अब तो मन करता है सब कुछ छोड़ कर, तुम्हारे प्रेम की इस डोर को भी तोड़ कर एकाकी उन्मुक्त पक्षी की तरह आकाश में उड़ जाऊं और तब तक उड़ती रहूं कि निर्जीव निष्प्राण हो धरती पर न आ पड़ूँ !

प्राण ! यदि तुमने मुझे सचमुच ही छोड़ दिया है तो साफ-साफ लिख क्यों नहीं देते ? जो भी हो सो स्पष्ट ही लिख दो। इस तरह उलझा-उलझा कर क्यों मार रहे हो ?

क्या तुम बड़े भइया की देख-रेख करते-करते स्वयं भी बीमार तो नहीं पड़ गये ? किन्तु दो पंक्तियाँ तो लिख सकते थे ! क्या हो गया है तुम्हें ?

क्या सब के प्रेम का अन्त इसी तरह अचानक होता है ? समझ नहीं पाती कि तुम इस तरह क्यों चुप्पी लगा गये हो ?

कभी मन करता है कि मैं स्वयं ही तुम्हारे पास पहुंच जाऊँ पर तुम्हारे बड़े भइया की याद आते ही डर जाती हूँ—उस दिन का वह निर्लज्ज नाटक ! और—

न जाने क्यों उनसे मुझे डर लगता है। जो छुआ-छूत का इतना ध्यान रखते हैं, सो क्या मुझ आनजात की लड़की को अपने घर में पैर रखने देंगे ?

क्या करूँ ! क्यों तुमने मुझे इतना बेबस बना डाला है ! तुम्हारे इस मौन से मुझे कितना कष्ट हो रहा है, सो क्या तुम सोच ही नहीं पाते ?

तुम्हारी प्रतीक्षा में
झीनी

गंगासागर

डाक्टर बाबू

तुम्हें देखे आज दो महीने बीत गये। दो महीने—यह याद आते ही आश्चर्य में डूब जाती हूँ कि इस बीच में पागल क्यों नहीं हो गयी ?

तीन-चार दिन से यहीं सोच रही हूँ कि जब दो महीनें से तुम चुप्पी लगाये बैठे हो तो अवश्य ही तुमने अपने मन में कुछ पक्का निश्चय कर लिया है।

अपने भइया के प्रति तुम्हारी जैसी श्रद्धा, भक्ति है सो मैं जानती हूँ। शायद वही तुम्हारे और मेरे बीच आ खड़ी हुई है किन्तु मुझे स्पष्ट लिख क्यों नहीं दिया ?

इतने दिनों तक अपने निश्चय का कोई संकेत, कोई पत्र क्यों नहीं दिया ? तुम्हारे इस निर्मम व्यवहार से मैं मर्माहत हो रही हूँ।

अब सोचती हूँ—तुम्हें सदा-सदा के लिए पाजाने का लालच ही

मैंने क्यों किया ? वैसा मुझे नहीं करना चाहिए था। क्यों मैंने ऐसी कामना की कि हम दोनों का भविष्य एक हो जाये ? क्यों तुम्हारे प्रेम में पड़कर अपनी बिसात भी भुला बैठी ?

मैं—एक क्षुद्र रखैल की पुत्री, पतिता माँ, लम्पट द्वारा पोषित, भ्रष्ट आत्मघातिनी की बहन—सो चली थी तुम्हारा वरण करने ?

डाक्टर बाबू ! रह-रह कर यही बात मुझे दिन-रात सालती रहती है कि मैं अपने को इतना बड़ा कैसे मान बैठी ! धरती पर बसकर आकाश कुसुम तोड़ने की मैंने क्यों की कामना ?

शायद यही—यही था कि जब पहली बार मैंने तुम्हारी आँखों में अपने लिए छलकते स्नेह का पारावार देखा तो लगा था जैसे मैं ही अखिल सृष्टि हूँ। ठीक यही—बस यही भाव न जाने क्यों हर बार तुम्हारी गोदी में सिर रखते ही जाग उठता था। उसी अभिमान को लेकर दिन-रात भगवान् से तुम्हें पा जाने की विनती करने लगी।

पिछले कई दिनों से एक ही बात नये-नये रूप धारण करके सामने आ जाती है शायद बड़े गुसाईं के आश्रम में किसी पुस्तक में ही पढ़ा था—

नर-नारी का मिलन ही सबसे बड़ा सुख नहीं हो सकता। क्योंकि वह परापेक्षी सुख है। सच्चा सुख निरपेक्ष और स्वतः संपूर्ण होना चाहिए।

शायद इसी स्वतः संपूर्ण सुख को पा लेने के लिए—उसी को खोजती—महीनों के भूले भगवान् के चरणों में आज जा बैठी। उन चरणों के समीप बैठकर लगा जैसे अपने मानवी-प्रेम की वह बात इस असीम विराट के सामने कितनी छोटी थी !

आँखें मूँदे-मूँदे ही सोचने लगी—मनुष्य अपने छोटे से जीवन की न जाने कितनी, कैसी छोटी-मोटी बातों का जाल बुन कर कैसे उस विराट के समूचे सत्य को ढक लेता है ?

फिर थोड़ी ही देर में लगा—नहीं !—यह सब पुस्तकों की बातें

हैं। नर-नारी का प्रेम चाहे कितना अनुत्तम और हेय ही हो किन्तु वही हमारे लिए सबसे बड़ा सत्य है। वासना मिथ्या नहीं है।

तुम और तुम्हारी वासना ही में मेरी मुक्ति है। उसके बिना मेरी कोई गति नहीं—कोई राह नहीं!

कभी सोचती हूँ—भगवान् ने मुझे ऐसी माँ के पेट से क्यों जन्म दिया था? क्या उससे बच निकलने का अब कोई मार्ग ही मेरे लिए शेष नहीं रहा है?

डाक्टर बाबू! यही है वह क्लेश, जिसे मैं बचपन से भोगती आ रही हूँ। उसी ने आज मुझे सबसे दूर फेंक दिया है!

हाय! क्या अपनी माँ के अपराध का दण्ड सारे जीवन ही मुझे भोगते जाना होगा?

तब कभी-कभी अन्दर-ही-अन्दर विद्रोह के ज्वालामुखी धधक उठते हैं। सोचती हूँ—अपने निजी सुख-दुख को लेकर जीवन भर मैं इसी तरह रिरियाती क्यों रहूँ!

जिस समाज, जिस धर्म ने मेरी और मेरी जैसी न जाने कितनी सन्तानों का जीवन नरक बना दिया है, सो ऐसी अभागी सन्तानें मिलकर इस सड़े-गले समाज की उन अमानवीय मान्यताओं को सदा-सदा के लिए छिन्न-भिन्न क्यों न कर डालें?

अपने अन्दर की इस घुटन को—पीड़ा के इस मोह को मैं प्रेम क्यों मान बैठी हूँ? क्या तुम्हारे इस प्रेम के पीछे मेरी यह प्रच्छन्न कामना ही तो नहीं है कि तुम से विवाह करके अपनी इस अपमान-जनक सामाजिक स्थिति से मुक्ति पा जाऊँ?

नहीं डाक्टर बाबू! अब तो लगता है कि यदि वह सम्भव भी हो तो भी अपनी इस निजी मुक्ति से मुझे चैन नहीं मिलेगा!

जिस लज्जाजनक क्लेश को मेरी दिदिया जीवन भर अकेली चुपचाप सहती रहीं, सो मैं कैसे भी न भूल पाऊँगी। नहीं—अब

नहीं--आप चाहें तो भी नहीं !—मैं विवाह नहीं करूंगी।

नहीं—नहीं—कभी नहीं !

क्या आप यह नहीं मानते कि मेरी दिदिया आपको अतिशय प्रेम करतीं थीं—पहले आपने उन्हें अपनी ओर अबाध गति से बढ़ने दिया क्योंकि आपके—पुरुष के—अहं को ऐसी बातों में सुख मिलता है कि कोई लड़की अपनी ओर से ही उस पर रीझ कर प्रेम निवेदन कर रही है।

और एक दिन उस 'अहं' के तृप्त होते ही आपने चीखकर उन्हें दुत्कार दिया—

"रामी। मैं उस हवा से भी नफरत करता हूं जो तुम्हें छूकर आ रही है !"

आपको इतनी बड़ी बात कहने का साहस ही कैसे हुआ ? इसी लिए न कि वे किसी विधवा ब्राह्मणी की कन्या थीं—पाप-कन्या !

और हायरे मेरा यह मानवी-प्रेम ! तुम्हारी इस इतनी बड़ी लज्जाजनक बात का भी अपने कानों से सुनकर भी सदा भुलाए रही। जब भी याद आती तो सदा भूल जाने का ही प्रयत्न करती थी।

डाक्टर बाबू ! सच कहती हूं यदि मेरी दिदिया आज जीवित होतीं तो उनसे भी अपने मन का यह पाप कह कर जी हलका कर लेती।

उस रात जब जबलपुर से लौटे थे तब दिदिया को उस तरह तुम्हारे निकट देखकर सचमुच ही मैं जल मरी थी। मैंने उन क्षणों में दिदिया के लिए मृत्यु कामना ही की थी।

तब सब कुछ देकर मैं तुम्हें पा जाना चाहती थी और आज सब कुछ छोड़कर अपनी दिदिया को—चाहे वे रौरव नरक ही में हों—इस देह के पिंजर को तोड़कर भी पा जाना चाहती हूं !

डाक्टर बाबू ! मैं तुमसे घृणा नहीं करना चाहती, पर अब प्यार भी नहीं कर सकती।

बस; डाक्टर बाबू ! यहीं तक हमारा यह परिचय था।

सदा-सदा के लिए विदा !

—झीनी

पुनश्च:

सोचती हूँ—बड़े गुसाईं के साथ ही तीर्थ यात्रा पर चल पड़ूँगी। उनका अखाड़ा कल सुबह यहाँ से जाने वाला है। पर जब तुम से विदा ही ले ली है तो कहाँ, कब जा रही हूँ सो यह बताने का लोभ भी क्यों करूँ ? बस—

—झीनी

Comments:
Read it Thoroughly,
Ramesh Razdan,
Ram Kaul, Bagh-i-Sunder
Chattabal
Srinagar
Kashmir.

३२

उस बात को आज सवा साल बीत गया है। झीनी के अन्तिम पत्र को पढ़कर राजेन्द्र ने भली-भाँति समझ लिया था कि बड़े गुसाईं जिसे पारस-मणि समझते थे, सो वही दुर्भाग्यवश अचानक उसके हाथ से छूटकर विडम्बना के अतल सागर में जा पड़ी है। जहाँ से एक बार फिर निकाल पाना उसके लिए असम्भव है दूसरी ओर—आदर्शवादी बड़े भइया का निषेध ! और विद्रोह करते समय उसे ध्यान आता था उनकी सम्भावित आसन्न मृत्यु का—

इसीलिए झीनी की खोज करने के लिए किसी भी तरह वह अपना गाँव नहीं छोड़ सका किन्तु उसे देखकर लगता है जैसे झीनी के पत्र पढ़ने के बाद वह अपनी इस देह को छोड़कर न जाने किस लोक में जा बसा है। जहाँ से इस सहज मानस-तल पर वह लौट ही नहीं पाता।

भादों की काली अँधियारी रात थी। बादल घने हो-हो कर झुक जाते थे। लगता था पानी अब बरसा—अब बरसा पर बरसता नहीं था। धीमी-धीमी सनसनाती पुरवाई बह रही थी।

राजेन्द्र के रोम-रोम में गहरी उदासी भर उठी थी। लेटा-लेटा चुपचाप आकाश में उमड़ते-घुमड़ते बादलों को देखे जा रहा था। उस ओर देखते-देखते हारे-थके राजेन्द्र की आँखें झपक गईं।

× × × ×

उसके बड़े भइया की तबियत ठीक नहीं है। लगता है दो-चार दिनों के मेहमान हैं। उनकी देख-भाल करनी ही पड़ती है। उधर सरकार की नई योजना के अनुसार खुले नये स्कूल में वह ग्राम-शिक्षक बन

गया है। सो अध्यापन कार्य तो वह करता ही है साथ ही खेती-बारी का कठोर श्रम-साध्य कार्य भी कम नहीं करता।

इस प्रकार थका-थका कर वह अपने को चूर-चूर कर लेता है। शायद इस लिए कि किसी तरह बिछौने पर पड़ते ही उसे नींद आ जाये और किसी के बिछोह के वे निर्मम वृश्चिक-दंशन न सहने पड़ें।

राजेन्द्र की उस कठोर दिनचर्या को देखकर बड़े भइया समझते हैं कि—राजेन्द्र झीनी की उस चोट को भूल गया है। यही सोचकर वे जाने कितनी बार भगवान् का नाम स्मरण कर-कर के अपने जुड़े हाथ मस्तक से लगा लेते हैं।

उधर भाभी अब राजेन्द्र को खरी-खोटी नहीं सुनाती। अपने अकर्मण्य देवर को काम-काज में व्यस्त देख कर प्रायः स्वामी से कहती है—

"देखा! राजू सारी जिन्दगी तुम्हारी कमाई पर गुलछर्रे उड़ाता रहा है और मैंने उसकी चिट्ठियाँ दबा कर कैसा जादू कर दिया। दिन-रात कोल्हू के बैल की तरह काम में पिसता रहता है! सच, कभी-कभी तो मुझे उस पर तरस आ जाता है।"

गृहणी की उस बात पर अब भइया को क्रोध नहीं आता पर न जाने क्यों आँखें छलछला आती हैं और आंसुओं से धुंधली हुई आंखों के सामने घूंघट काढ़े झीनी की छाया आ खड़ी होती है। और तभी याद आता है अपना आशीर्वाद—"बहू! तुम्हारा सुहाग अमर हो, यही अपने प्रभु के चरणों में मेरी विनती है।"

× × × ×

अचानक आकाश में छाये बादल छर-छराते बरस पड़े। राजेन्द्र बाहर चौपाल में छप्पर के नीचे सो रहा था। मधुसूदन आकर अपनी नन्हीं उंगलियों से चाचा को जगाता बोला—

"चाचा! ओ चाचा!!"

उसने आँखें खोल दीं। इस तरह अचानक जगा देने से उसे क्रोध भी कम नहीं आया पर बोला कुछ नहीं।

अब वह बहुत कम बोलता है। बड़े-से-बड़े आवेगों को चुपचाप सह लेने की शक्ति उसमें न जाने कैसे आ गई है !

आज कितने महीनों बाद उसने झीनी को स्वप्न में देखा था—

कैसा पीला दयनीय उसका चेहरा था ! स्वप्न में उसे देखते ही महीनों के दुःखों का वह पूंजीभूत बांध अचानक कूल-किनारा तोड़ कर हहराता बह चला—कह रही थी—ऐसे क्यों रहते हो ? क्यों यह चिथड़े पहनते हो ? लो मैं तुम्हारे लिए यह नया रेशमी कुर्ता लायी हूँ। वह बाहें पसारे झीनी की ओर दौड़ा जा रहा था कि तभी मधुसूदन ने आकर उसे जगा दिया।

राजेन्द्र ने भर्राये कण्ठ से पूछा—

"क्या है ? भइया की तबियत ठीक है ?"

"हाँ, बुला रहे हैं !"

"अच्छा, चल !"

भइया अकेले कमरे में लेटे थे। दीवाल में एक छोटा-सा ताख है। उसमें दिया टिमटिमा रहा है, उसके ठीक सामने एक बड़े ताख में भगवान् की मूर्ति रक्खी है।

राजेन्द्र कमरे में पहुँचा तो देखा—भइया सदा की भांति भगवान् की मूर्ति को अपलक देखे जा रहे हैं किन्तु उस दृष्टि में जो कुछ था वैसा उससे पूर्व उसने कभी न देखा था।

आँखों की कोरें भीग उठी थीं और फिर धीरे-धीरे उन कोरों से टप्-टप् आँसू झरने लगे।

कुछ देर कमरे में सन्नाटा रहा। रुंधे कण्ठ से वे बोले—

"पास आजा राजू !"

राजेन्द्र बिछौने पर उनकी ओर मुंह करके बैठ गया।

तभी इतनी जोर से बिजली कौंधी कि सारा कमरा 'फक्' से

आलोकित हो उठा। फिर लगा जैसे कहीं पास ही कड़कड़ाती बिजली आ गिरी है।

राजेन्द्र काँप कर चारपाई से गिरते-गिरते बचा ? उसे लगा जैसे भइया के कान आँखों ने कुछ भी नहीं सुना, कुछ भी नहीं देखा, जैसे वे इस धरती को छोड़कर न जाने किस लोक में जा बैठे हैं।

सहसा वे अति गम्भीर किन्तु आर्द्र कण्ठ से बोले—

"राजू !........देखो........संसार में सब कुछ मिल जाता है पर सहोदर भाई नहीं मिलता। पर........पर........क्या कर पाया......तेरे लिए........।" कहते-कहते उनका गला रुँध आया फिर कुछ सम्भल कर बोले—

"एक दिन अपने इन हाथों से जिसका माथा छूकर अमर सुहाग की आशीष देकर चला आया था, उसी के सुहाग चिन्ह को अपने संस्कारों से तुझे 'ना' कहकर क्यों मैंने पोंछ दिया ?

पिछले कई महीनों से इस मृत्यु शय्या पर पड़ा-पड़ा बस यही एक बात सोचता आ रहा हूँ।

सोचता हूँ—इस जाति-धर्म को लेकर जो एक मनुष्य दूसरे से इतना दूर जा पड़ता है सो क्या यही परम सत्य है ?

उस दिन घूंघट में मुंह छिपाये तेरे कमरे में ही वह खड़ी थी। इस लिए उसका मुँह नहीं देख पाया।"

कह कर कुछ देर वे चुप रहे फिर बोले—"मेरी ये आँखें उस का चेहरा नहीं देख पातीं पर उसके निराश-दुखी हृदय में जो मन्थन दिन-रात होता रहा है सो सदा यहाँ लेटे-लेटे ही मेरे कान सुनते रहे हैं।

उसे सुन-सुनकर मेरे प्राण व्याकुल हो उठते थे और राजू ! एक दिन तो अन्दर ही अन्दर कोई पुकार उठा—

ओ मेरे पतित पावन ! यह कैसी है तुम्हारी लीला ? माँ के अपराध का भोग क्या उसकी कन्या जीवन भर इसी तरह भोगती जायेगी ?

तभी लगा जैसे वही अपने श्री मुख से कहीं बोल उठे"—

"वह कन्या निर्दोष है ! कीचड़ में उत्पन्न हुई कमलिनी की भांति पुनीत और पवित्र !"

राजू ! आज सवेरे से मैं सोच रहा था कि तुझे भेज कर उसे बुलवा लूंगा और अपने हाथों से ही अन्त समय में तेरा हाथ उस लक्ष्मी के हाथों में सौंप दूंगा। पर कैसी है मेरे प्रभु की लीला······· हे प्रभो·······हे ना······थ·······।" कहते-कहते बड़े भइया ने राजेन्द्र का हाथ खींचकर अपने दोनों कांपते हाथों में दबाकर अपनी छाती पर रख लिया।

थोड़ी देर उस कमरे में सन्नाटा रहा। बड़े भइया का हृदय जोर-जोर से धड़क रहा था। वे अपने उस बड़े दुःख को अन्दर ही अन्दर दबा लेना चाहते थे पर ऐसा उद्वेग जो छाती फाड़ कर बाहर आ जाना चाहता हो उसे कौन रोक पाया है आज तक ?

तभी राजेन्द्र न जाने कैसी आशंका से घबराता सा बोला—

"भइया ! कहीं से कोई चिट्ठी आई है ? क्या हुआ है ?"

सुनकर भइया का सारा शरीर एक बारगी कांप गया। फिर बोले—

"राजू ! सारा जीवन पूजा-पाठ और भगवान् की आराधना ही में बीता है पर मेरे प्रभु ने इस ओर से मुझको ऐसा निपट अंधा क्यों बना दिया कि जीवन का इतना बड़ा सत्य मेरी आंखों से ओझल ही रह गया।

एक मनुष्य दूसरे के लिए अछूत कैसे हो सकता है ? क्यों अछूत, आनजात की बेटी मान कर मैंने उस इतनी बड़ी आत्मा का तिरस्कार किया ?

राजू ! जानता हूं कि भगवान् का भेजा मृत्यु-रथ मेरे निकट आ पहुंचा है······और तब·······जाकर·······इस सत्य को पहचान पाया ········नाथ !········यही········सही अब अन्त समय·······जो सत्य पहचान पाया है सो·······सो चाहता हूं कि पुकार-पुकार कर जन-जन

को वता ग्राऊँ······पर नहीं·······ग्रब नहीं·······ग्रब तो········।"
कहते-कहते भइया जोर-जोर से हाँफने लगे। एक-एक सांस लेने में उन्हें कष्ट हो रहा था।

जैसे-तैसे हाँफते-हाँफते ही तकिये के नीचे से एक लिफाफा निकाल कर राजेन्द्र की ग्रोर वढ़ाते वोलें—

"सह लेना राजू !·······विना सहे·····विना सहे······ नही चलता संसार में·······सह लेना·······भाई !" कहते-कहते वे सामने ही ताख में रक्खी भगवान् की मूर्ति की ग्रोर एकटक देखने लगे।

राजेन्द्र ने काँपते हाथों से उस लिफाफे को खोलकर चिट्ठी निकाली। चिट्ठी वृन्दावन धाम से वड़े गुसाईं ने लिखी थी। वह वहीं वैठा-वैठा पढ़ने लगा—

वृन्दावनधाम

ग्रादरणीय गुसाईं !

काशी में ग्राप से ग्रन्तिम वार मिलना हुग्रा था। एक दिन राजेन्द्र गुसाईं से गंगा सागर में पता चला कि वह ग्रापके छोटे भाई हैं। तभी उनसे ग्रापका यह गाँव वाला पता मिल गया था। कितने दिनों से ग्राप को पत्र लिखना चाहता था पर लिख ही नहीं सका ग्रौर ग्राज पत्र के द्वारा यह दुःसम्वाद भेज रहा हूँ—हरि इच्छा !

गुसाईं ! ग्राप मेरे गुरु भाई हैं। उन दिनों महाप्रभु के चरणों में ग्रापकी ग्रटूट श्रद्धा-भक्ति देखकर ही शायद मैंने मन ही मन संसार के भोग त्याग कर वैरागी वनने का निश्चय कर लिया था। कितने वर्ष वीत गये उस वात को—पर गत वर्ष ग्रापके वारे में जो जान पाया हूँ उससे मुझे वहुत क्लेश हुग्रा है।

ग्रपने वैष्णव जीवन में न जाने कितने सन्त, महात्माग्रों से मिलना-जुलना हुग्रा, हरि-चर्चा हुई पर ग्रापका जैसा विश्वास कभी देखने को नहीं मिला। हाँ, कुछ समय पूर्व गंगासागर ग्राम में एक ग्रात्मा के दर्शन

हुए और गुसाईं ! अपने ज्ञान से अभिमानी मेरा यह मस्तक उसके चरणों पर, उसके एकनिष्ठ प्रेम की वेदी पर झुक गया। और गुसाईं उसी को अमर सुहाग का आशीर्वाद देकर भी आपने—मेरे उसी सन्त गुरु भाई ने—उसे हेय समझ कर त्याग दिया।

गुसाईं ! आप सदा से मेरे पूज्य रहे हैं। आज भी मैं आपका कम आदर नहीं करता पर आपके ही कारण जिस आत्म-पीड़न को सहते-सहते आज वह निष्कलंक महान् आत्मा हम सब को छोड़कर भगवान् के चरणों में चली गई है सो देखकर ऐसी कटु बात लिखने में भी मुझे संकोच नहीं हो रहा है कि—

उस कल्याणी को अस्पृश्य कहकर यदि आप ही ने उसे त्याग देने के लिए राजेन्द्र गुसाईं को कहा था तो—मिथ्या है उनका नाम लेना और मिथ्या है आपका इस पथ पर आना। गुसाईं ! आपका पूजन-अर्चन सब मिथ्या है !

मैं वैरागी हूँ। जन्म-मृत्यु, सुख-दुख मेरे लिए समान हैं पर आज जो जीवन भर क्लेश सहकर चली गई है सो मेरे लिए मात्र आदर की ही वस्तु नहीं थी, उसके सान्निध्य में मुझे लगता था जैसे—

प्रति पल, प्रति क्षण मेरी उँगली थामे भगवान् के श्री चरणों के निकट सदेह सशरीर ही मुझे लिये जा रही थी।

अच्छा गुसाईं ! अब तो सब समाप्त हो गया। हरि-इच्छा !

साथ की चिट्ठी राजेन्द्र गुसाईं को दे देना।

आपका

गोविन्ददास

पत्र पढ़ते-पढ़ते राजेन्द्र को कई बार लगा जैसे आगे वह नहीं पढ़ पाएगा। पर किसी तरह वह पूरा पत्र पढ़ गया।

महीनों से उसे लगता है जैसे वह मर चुका है। उसका मृत शरीर ही इधर-उधर घूम रहा है।

दूसरे पत्र के लिए उसने लिफाफा खोल कर देखा। उसमें एक दूसरा पत्र भी था। झीनी के हाथ की लिखावट देखकर उसकी उँगलियाँ काँप गईं। लगा जैसे सब कुछ घूम उठा है।

पत्र खोलकर जैसे-तैसे पढ़ने लगा—

वृन्दावनधाम

गुसाईं !

'झीनी' को मरे आज महीनों बीत गये। शायद उसी दिन वह मर गई थी, जिस दिन अपना अन्तिम पत्र लिखकर वह बड़े गुसाईं के आश्रम में चली आई थी। आज मैं बड़े गुसाईं के आश्रम की 'कल्याणी' हूँ। इसी नाम से यहाँ सब मुझे जानते-पहचानते हैं।

गुसाईं ! जो 'मैं' हूँ सो तो बहुत पहले ही मर चुकी है पर लगता है एक दो दिन में यह शरीर भी मिट जायेगा। कई दिनों से तुम्हें लिखना चाहती थी पर न जाने क्या-क्या सोचकर लिख नहीं पाती थी।

अब मैं बिलकुल टूट गई हूँ। इतनी कि व्यथा सहने की सामर्थ्य भी नहीं रही है। शायद इसीलिए तुम्हें कुछ न लिखने का निश्चय ढीला पड़ गया है। सारा धीरज ही आज खो बैठी हूँ।

कई दिनों से थोड़ा-थोड़ा करके यह पत्र लिखे जा रही हूँ। गुसाईं ! तुम्हें मैंने प्यार किया है और घृणा भी कम नहीं की है पर अब मरते समय चाहती हूँ कि तुम्हें देखते-देखते ही प्राण त्याग पाती ! पर वह अब हो नहीं सकेगा।

सच, गुसाईं ! दिन-रात भगवान् का नाम जपते-जपते भी एक पल के लिए मैं तुम्हें कभी न भुला पाई।

आज तो लगता है जैसे भगवान् के निमित्त से मैं तुम्हारा ही नाम जपती आ रही हूँ।

गुसाइं ? मेरा क्या है ? मैं तो डूब ही रही हूं पर तुम मत डूबना। एक काम तुम्हें सौंपे जा रही हूं। बड़े गुसाइं से बात हो गई है। वे तुम्हारी सदा मदद करते रहेंगे पर सब कुछ करना तुम्हीं को है।

मेरे मरने के बाद तुम एक ऐसा आश्रम बनाना जिसमें मेरी जैसी 'पाप की सन्तानों' को लिखा पढ़ा कर यह समझाया जाए कि—

वे इस तरह का जन्म पाकर किसी से भी हेय नहीं हो जातीं। जो उन्हें वैसा समझते हैं, सो यदि आज नहीं तो कल वे ही संसार में सबसे छोटे समझे जाएंगे।

मैंने जीवन में मन-वचन, कर्म से तुम्हीं को प्यार किया है। अपने उसी एकान्त प्रेम के नाम पर इस अन्तिम समय में एक भीख और माँगती हूं—मना मत करना मेरे गुसाइं—

पिछले कई महीनों से भगवान् के समीप बैठ कर केवल यही माँगती आई हूं कि मैं तुम्हें भूल जाऊं पर कैसे भी भुला नहीं पाई। शायद इसी लिए कि तुम कहीं दूर देश में बैठे मन-ही-मन मेरे आंचल का छोर पकड़े बैठे हो !

गुसाइं अब मुक्ति चाहती हूं और जाते-जाते अपनी इसी मुक्ति की भीख माँग रही हूं।

बस तुम यही करना कि—

मुझे—मेरी याद को—भगवान् के श्री चरणों में चढ़ा देना। याद कर-करके कभी अपना मन दुखी मत करना। बस—

विदा गुसाइं ! मेरा अन्तिम प्रणाम लेना।

—कल्याणी-झीनी

सहसा स्तब्ध बैठे राजेन्द्र को लगा जैसे धरती आकाश को कांपती उसके आंगन में ही कहीं कड़कड़ाती बिजली आ गिरी है।

घर की कच्ची दीवालें थरथरा गईं। ताख में रक्खा टिमटिमाता दीया धरती पर उलटकर बुझ गया और कमरे को घने अंधकार ने लील लिया।

तभी उस अँधियारी में उसकी अधखुली आँखों ने देखा—

किसी नारी का क्लान्त पीला चेहरा!

और उस अभागे के कानों ने सुना भइया की टूटती साँस में धीमा-धीमा गूंजता क्षीण स्वर—

"हे..........रा............म!"

NOT SO GOOD.

"Everey Reader gives his own opinion about the books. Never Try to discourage anybody"

Ramesh Razdan
Ist. Yr. T.D.C
Sri Pratap college
Sgr.

Dec. 2, 1967

C/o Zaindar mohalla, Malik Bagh Srinagar.